Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

संस्थापक–सम्पादक
यशदेव शल्य

उन्मीलन

मानसिक हिन्द स्वराज का वैतालिक
दार्शनिक षाण्मासिक

सम्पादक
अम्बिकादत्त शर्मा
प्रदीप कुमार खरे

वर्ष 36, अंक 1
जनवरी-जून, 2022

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

वर्ष 36, अंक 1 जनवरी–जून, 2022

उन्मीलन

मानसिक हिन्दस्वराज का वैतालिक
दार्शनिक षाण्मासिक

संस्थापक–सम्पादक
यशदेव शल्य

सम्पादक
अम्बिकादत्त शर्मा
प्रदीप कुमार खरे

दर्शन प्रतिष्ठान
जयपुर

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

परामर्शदाता

1. **रामजी सिंह,** 104, सन्याल इन्क्लेव, बुद्धमार्ग, पटना–800001
2. **अशोक वाजपेयी,** सी–60, अनुपम को–ऑपरेटिव ग्रुप हाउसिंग सोसायटी, वसुन्धरा एन्क्लेव, दिल्ली–110096
3. **रमेशचन्द्र शाह,** एम. 4, निराला नगर, भदभदा रोड, भोपाल–462003
4. **अशोक वोहरा,** सी–748, विकासपुरी, नई दिल्ली–110018

संस्थापक-सम्पादक

यशदेव शल्य

सम्पादक

1. **अम्बिकादत्त शर्मा,** सी.–37, गौर नगर, विश्वविद्यालय परिसर, सागर–470003 दूरभाष 07582–293668 मो. 09406519498
2. **प्रदीप कुमार खरे,** आर.बी. 72, इण्डस गार्डन, गुलमोहर, भोपाल–462039, दूरभाष 0755–2427461, मो. 09425029308

ISSN 0974 0053
UNMEELAN (Refereed Journal), U.G.C. Care List : Arts & Humanities, Sl.No. 310

वार्षिक शुल्क
व्यक्तिगत : रु. 200/–
संस्थाएं : रु. 500/–

आजीवन शुल्क
व्यक्तिगत : रु. 5000/–
संस्थाएं : रु. 10000/–

आजीवन/वार्षिक सदस्यता हेतु राशि "प्रधान–सम्पादक – उन्मीलन" के पक्ष में बैंक ड्राफ्ट (सागर, म.प्र. पर देय) निम्न पते पर भेजें – अम्बिकादत्त शर्मा, दर्शन विभाग, डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर–470003 (म.प्र.)

कमलनयन एवं अम्बिकादत्त शर्मा द्वारा **दर्शन प्रतिष्ठान,** पी–51 मधुवन पश्चिम, किसान मार्ग, जयपुर–302015 के लिए प्रकाशित।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

अनुक्रमणिका

1. काण्टीय दर्शन के कुछ विचारणीय आयाम — 5
आचार्य कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य की दृष्टि से
अरविन्द कुमार राय

2. पहचान की राजनीति एवं बौद्धिकता का — 29
विमर्शात्मक आरेखन
विश्वनाथ मिश्र एवं कुलदीप शर्मा

3. इतिहास : संस्कृति की जीवनी — 58
कमलनयन

4. अल्बेयर कामू और विसंगति का नैतिक–दर्शन — 81
विवेक कुमार पाण्डेय

5. व्यवस्था की उपयोगिता के तर्कों की जाँच पर निबन्ध — 92
आशुतोष व्यास

6. परार्थानुमान का बौद्ध प्रयोजन और उसकी — 102
हेतुकेन्द्रित निष्ठा
अम्बिकादत्त शर्मा

7. पुस्तक–समीक्षा — 115
पाणिनी कालीन भारतवर्ष
विश्वनाथ मिश्र

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

लाठ सर्वोदय ग्रंथमाला

1.	संगीत और चिन्तन (शंकर पुरस्कार से सम्मानित)	–	मुकुंद लाठ	100.00
2.	धर्म–संकट	–	मुकुंद लाठ	200.00
3.	कर्म–चेतना के आयाम	–	मुकुंद लाठ	250.00
4.	क्या है?क्या नहीं है?	–	मुकुंद लाठ	150.00
5.	मूल्यतत्त्व–मीमांसा (शंकर, मंगलाप्रसाद तथा मूर्त्तिदेवी पुरस्कारों से सम्मानित)	–	यशदेव शल्य	200.00
6.	चिद्विमर्श	–	यशदेव शल्य	175.00
7.	तत्त्व–चिन्तन	–	यशदेव शल्य	200.00
8.	चित् की आत्म–गवेषणा	–	यशदेव शल्य	250.00
9.	काव्य–विमर्श	–	यशदेव शल्य	250.00
10.	मुख्य भारतीय तथा पाश्चात्य दर्शन–धाराएं	–	यशदेव शल्य भगवती	150.00

11. यशदेव शल्य की सभी मौलिक कृतियों का संग्रह अब 'यशदेव शल्य समग्र' शीर्षक से चार खण्डों में उपलब्ध है। प्रत्येक खण्ड का मूल्य 1,600/- तथा चारों खण्डों का मूल्य 6,400/- है। प्रकाशक :- डी.के. प्रिण्टवर्ल्ड (प्रा.) लि., वेदश्री, एफ- 395, सुदर्शन पार्क, नई दिल्ली-110015, दूरभाष 011-25453975

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

काण्टीय दर्शन के कुछ विचारणीय आयाम
आचार्य कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य की दृष्टि से

अरविन्द कुमार राय

कोई प्रतिभावान् भारतीय आत्मा की झलक कला में दिखा सकता है, लेकिन इसके विधिवत् अन्वेषण का प्रयास हम दर्शन के द्वारा कर सकते हैं।

—कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य

प्रो. जे.एन. मोहन्ती ने अपने लेख 'भारतीय दर्शन का भविष्य' (Bilimoriya, 1993, 334–35) में भारतीय दर्शन की स्वस्थ्यता को भविष्य में संरक्षित करने के लिए ग्यारह निर्देश दिये हैं। इन निर्देशों में उनका सातवाँ निर्देश यह है कि जिस प्रकार हम पाश्चात्य पद्धति का आलम्बन करके भारतीय दर्शन की समस्याओं का पुनरोल्लेख, पुनर्स्थापन, आलोचना या परिष्कार करने का प्रयास करते हैं, उसी प्रकार हमें भारतीय पद्धति का आलम्बन करके पाश्चात्य दर्शन की समस्याओं की भी मीमांसा करनी चाहिए। आचार्य कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य की पुस्तक काण्टदर्शनेर तात्पर्य इसका एक जीता जागता उदाहरण है। इस दृष्टि से विचार करने पर स्वामी करपात्रीजी द्वारा विरचित पुस्तक मार्क्सवाद और रामराज्य भी एक अद्भुत पुस्तक है, ज़ो 1957 में गीता प्रेस द्वारा प्रकाशित हुई। भारतीय पद्धति का आलम्बन करने पर जहाँ हम भारतीय पद्धति की आन्तरिक क्षमता से परिचित होते हैं, वहीं हमारी पद्धति की व्यापकता से विश्व दर्शन का भी उपकार होता है। भारतीय पद्धति का उपयोग न केवल भारतीय दर्शन के लिए उपकारी है अपितु विश्वदर्शन में हमारी सोच की विशेषता को सार्थक ढंग से प्रस्तुत करता है। विश्वदर्शन में हमारी सहभागिता को प्रदर्शित करता है। उदाहरण के लिए भट्टाचार्य जी के लेख 'निरपेक्ष तत्त्व का प्रत्यय तथा इसके वैकल्पिक आकार' का महत्त्व केवल भारतीय दर्शन की दृष्टि से नहीं है, अपितु भारतीयेतर दर्शन की दृष्टि से भी है। काण्ट के दर्शन का तात्पर्य

उन्मीलन - वर्ष 36, अंक 1, जनवरी-जून 2022
ISSN-0974-0053
U.G.C. Care List : Arts & Humanities, SI.No. 310

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

नामक ग्रंथ भट्टाचार्य जी द्वारा विदेशी दर्शन की अंतरात्मा को समझने के लिए अनोखा प्रयास है। 18वीं शताब्दी के अंत तक यह बात स्पष्ट हो गयी थी कि विश्व के एक भाग में घटने वाली घटनाओं से विश्व का दूसरा भाग उदासीन नहीं रह सकता है। काण्ट ने इसका उल्लेख अविरल शान्ति नामक ग्रंथ में किया है। ये घटनाएँ चाहे आर्थिक हों, सामाजिक हों या दार्शनिक हों। इस दृष्टि से विश्वदर्शन में हमारी सहभागिता आवश्यक हो जाती है। इसकी महती आवश्यकता जर्मन दर्शन के संदर्भ में इसलिए उठती है कि काण्ट और काण्टोत्तर जर्मन–दर्शन विशेषकर फिक्टे, शेलिंग और हेगल का दर्शन भारतीय दर्शन की विज्ञानवादी धारा के समीप आता प्रतीत होता है।

इसका एक प्रमुख कारण यह प्रतीत होता है कि 18वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में तथा 19वीं शताब्दी के प्रारम्भ तक चार्ल्स विल्किन्स (1749–1836), विलियम जोन्स (1746–1794) आंकेतिल ड्यूपेराँ (1731–1805) तथा हेनरी थामस कोलब्रुक (1785–1837) आदि के प्रयासों से पर्याप्त भारतीय दार्शनिक साहित्य यूरोपीय विद्वानों के लिए उपलब्ध था। 1790 में चार्ल्स विल्किन्स ने गीता का अनुवाद अंग्रेजी में प्रकाशित किया तथा 1785 में हितोपदेश का। विलियम जोन्स के प्रयासों से मनुस्मृति का प्रकाशन 1798 तक हो चुका था। 1801–02 में ड्यूपेराँ ने 'औपनिखत' नाम से दाराशिकोह के सिरे–अकबर में उपलब्ध 50 उपनिषदों का अनुवाद लैटिन में किया। ध्यान देने की बात है कि इस संग्रह में पुरुषसूक्त को भी उपनिषद् के रूप में लिया गया है। अतः अनेक विदेशी विद्वान् यह सोचने के लिए विवश हुए कि ग्रीक साहित्य की तरह भारतीय साहित्य को छोड़कर उनका चिन्तन परिपक्व नहीं हो सकता है। अतः 18वीं शताब्दी के बाद आने वाले जर्मन चिंतक, विशेषरूप से विज्ञानवादी धारा के चिंतकों पर भारतीय साहित्य का प्रभाव भावात्मक या निषेधात्मक रूप से स्पष्ट झलकता है। जर्मन विचारकों में सर्वप्रथम हेनरी नार्थ ने 1664 में संस्कृत सीखने का प्रयास किया जिससे वह ब्राह्मणों को उन्हीं की विद्या में परास्त कर सके। हैंक्सलेडन 1699 में मालाबार आया तथा उसने शब्दकोश और व्याकरण का निर्माण किया । लेकिन अधिक प्रभाव यूरोपीय विचारकों पर चार्ल्स विल्किंस आदि के प्रयासों के बाद पड़ा। फ्रेडरिक श्लेगेल (1772–1829) जो एक महत्त्वपूर्ण जर्मन निरपेक्षवादी दार्शनिक है, भारतीय मनीषा में गहरी रूचि

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

प्रदर्शित करते हैं लेकिन भारतीय सर्वेश्वरवाद (Millington, 1849, 469) की आलोचना करते हैं। शेलिंग का दर्शन, फ्यूरबैक के अनुसार, जर्मन भूमि पर भारतीय निरपेक्षवाद का अवतरण है। शापेनहावर पर उपनिषदों का प्रभाव सर्वविदित है। हेगल का सारा ध्यान मनुस्मृति की आलोचना पर है। हेगल के समय तक संस्कृत व्याकरण तथा भारतीय गणितीय साहित्य का अनुवाद हो चुका था, लेकिन अपने इतिहास के दर्शन पर दिये गये व्याख्यान में भारतीय संस्कृति का विवेचन करते समय संस्कृत व्याकरण तथा भारतीय गणित साहित्य की प्रशंसा करने से बचते हुए दिखाई पड़ते हैं। इस दृष्टि से श्लेगल की दृष्टि अधिक व्यापक है। उसने चार्ल्स विल्किन्स, विलियम जोन्स और कोलब्रुक के अनुवादों का उपयोग करके भारतीय साहित्य और व्याकरण पर अच्छी टिप्पणी की है। कोलब्रुक भारतीय दर्शन को ग्रीक दर्शन पर टीका के रूप में ग्रहण करता है (T.E. Calebrooke, 1973, 392)। चाहे हम ग्रीक दर्शन का प्रभाव भारतीय दर्शन पर माने या भारतीय दर्शन का प्रभाव ग्रीक दर्शन पर माने, लेकिन यह निष्कर्ष जर्मन विचारकों को विशेषरूप से रूप से स्पष्ट होने लगा कि भारतीय परम्परा या पाश्चात्य परम्परा को एक दूसरे से पूर्णतः पृथक् करके नहीं समझा सकता है। अतः 20वीं शताब्दी के प्रारम्भ में आने वाले भारतीय विचारकों ने निरपेक्ष विज्ञानवाद को भारतीय दृष्टि से आधुनिक शब्दावली में प्रस्तुत करने का प्रयास किया जिससे भारतीय निरपेक्ष विज्ञानवाद की सही दृष्टि विश्वपटल पर उपलब्ध हो सके। हमें यह भी समझना चाहिए कि जिसे हम विशुद्धरूप से जर्मन निरपेक्षवाद कहते हैं उसमें किसी न किसी अंश में भारतीय निरपेक्षवाद का भी पुट है। स्वामी करपात्री जी हेगेल के दर्शन को वेदान्त दर्शन के समीप मानते हैं। 20वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में अनेक भारतीय विचारकों ने काण्ट के दर्शन का आश्रय करके वेदान्त दर्शन को स्पष्ट करने का प्रयास किया है जिससे वेदान्त दर्शन के वास्तविक स्वरूप को पाश्चात्य विचारकों को उन्हीं की भाषा में समझाया जा सके। स्वामी विवेकानन्द ने ज्ञानयोग में कांट के दर्शन का आश्रय कर वेदान्त दर्शन को स्पष्ट किया है। भट्टाचार्यजी ने कांट के दर्शन का आश्रय कर न केवल अपने दर्शन को सवाँरा है, अपितु कांट के दर्शन का तात्पर्य नामक ग्रंथ में भारतीय पद्धति का आलंबन करके कांट के दर्शन को भी स्पष्ट करने का प्रयास किया है।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

I

कांट ने अपने दर्शन को 'आलोचनात्मक दर्शन' कहा है। 'आलोचनात्मक दर्शन' का रहस्य, भट्टाचार्य जी के अनुसार विभिन्न प्रकार की निश्चितताओं की परीक्षा है। सामान्यतः हम ज्ञानात्मक निश्चितता पर ही बल देते हैं लेकिन कांट ज्ञान की भाषा के साथ–साथ नीतिशास्त्र के संदर्भ में श्रद्धा की भाषा का भी प्रयोग करते हैं। प्रश्न है कि श्रद्धा पर आधारित पदार्थ, ज्ञान पर आधारित पदार्थों की अपेक्षा कम सत्य है, अधिक सत्य है या बराबर सत्य है। भट्टाचार्य जी के अनुसार कांट दोनों को समान रूप से सत्य मानते हैं।

सामान्यतः हम ज्ञानात्मक निश्चितता पर बल देते हैं। एक समय था जब पाश्चात्य दार्शनिक विचारक श्रद्धात्मक निश्चितता को, ज्ञान निश्चितता से अधिक महत्त्व देते थे। थामस एक्विनास (1225–1274) ने प्राकृतिक धर्मशास्त्र और प्रकाशित धर्मशास्त्र में भेद इसी आधार पर किया है। लेकिन कांट के दर्शन में दोनों को समान महत्त्व दिया गया है।

अनेक विचारक मात्र ज्ञान की भाषा पर ही निर्भर होते हैं। मात्र ज्ञान की निश्चितता पर बल देने पर उनका दार्शनिक क्षेत्र संकुचित हो जाता है या नीतिशास्त्र और धर्म के सत्यों और मूल्यों का अवमूल्यन हो जाता है। ज्ञानात्मक निश्चितता पर बल देने के कारण प्रसिद्ध कांटीय विचारक फाहिंगर (1852–1933) ने कांट के दर्शन के सभी प्रमुख पदार्थों को कल्पना (Fiction) की कोटि में रख दिया है। इसी क़ारण विट्गेंस्टाइन ने ट्रैक्टेट्स में नीतिशास्त्र को अतिविषयक (transcendentral) कहा है। भट्टाचार्य जी के अनुसार ज्ञान निश्चय के अतिरिक्त दार्शनिक पदार्थों के साथ न्याय करने के लिए 'ध्यान निश्चय' को भी मानना आवश्ययक है। 'ध्यान निश्चय' का प्रयोग भट्टाचार्य जी ने ज्ञानेतर निश्चितता के लिए किया है।

भट्टाचार्य जी ने निश्चय परीक्षा कांट की तीनों आलोचनाओं के प्रसंग में किया है। उनकी लघु –पुस्तिका कांट के दर्शन का तात्पर्य (कांट–दर्शनेर तात्पर्य) चार भागों में विभक्त है– 1. कृति परीक्षा, 2. ज्ञान परीक्षा, 3. वेदना परीक्षा तथा 4. निश्चय संग्रह। भट्टाचार्य जी के मत का विवेचन करते समय इसी पुस्तक को क़ेन्द्र में रखा है। इसके साथ–साथ गोपीनाथ भट्टाचार्य द्वारा संपादित (1958) स्टडीज इन फिलॉसफी (दो

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

खंडों में) का भी आश्रय लिया है। कांट के दर्शन का तात्पर्य एक पुस्तक न होकर एक विस्तृत निबंध है जो बांग्ला में प्रसिद्ध कांटीय दर्शन के विज्ञाता प्रो. रासबिहारी दास द्वारा विरचित कांटेर–दर्शन के अंत में संलग्न है। इस लेख का अनुवाद प्रसिद्ध दार्शनिक प्रो. जे.एन. मोहंती तथा तारा चटर्जी (2011) ने अंग्रेजी में किया है तथा प्रसिद्ध विद्वान् पद्मश्री आचार्य मुकुन्द लाठ ने इसका हिन्दी में अनुवाद किया है तथा ख्यातिलब्ध विद्वान् प्रो. अम्बिकादत्त शर्मा ने (2020) इसे संपादित किया है।

निश्चितता के अर्थ को समझने के लिए निश्चितता का विश्लेषण घातक हो सकता है। देकार्त ने 'मैं सोचता हूँ, इसलिए मैं हूँ' के प्रसंग में अपने ग्रंथ दर्शन के सिद्धांत में यह स्पष्ट किया है कि स्वतः स्पष्ट प्रत्ययों को परिभाषित करने में या व्युत्पत्तिपरक अर्थ करने में दार्शनिक इन प्रत्ययों को और गूढ़ बना देते हैं। देकार्त की निश्चितता पर यह टिप्पणी सार्थक है।

कांट के इस कथन से हम भली प्रकार परिचित हैं कि विषय के बिना विचार शून्य है तथा संवेदन बिना विचार अंधे हैं। ज्ञान दोनों के सहयोग से संभव होता है। संवेदन ज्ञान की दृष्टि से मानव के लिए इन्द्रिय संवेदन है। लेकिन यह सब कुछ कांट के दर्शन में सैद्धान्तिक ज्ञान की दृष्टि से ही सत्य है। भट्टाचार्य जी के अनुसार कांट सैद्धान्तिक ज्ञान के अतिरिक्त व्यावहारिक ज्ञान भी मानता है। निरपेक्ष नैतिक आदेश कांट के अनुसार अनुभव निरपेक्ष संश्लेषणात्मक कथन है। अतः भट्टाचार्य जी कहते हैं कांट के लिए आवश्यक नहीं है कि ज्ञान सैद्धान्तिक हो तथा यह भी आवश्यक नहीं कि संवेदनगर्भित हो...विचार व्यावहारिक ज्ञान और सैद्धान्तिक ज्ञान के लिए आवश्यक है, प्रथम में विचार विकल्प से होता है तथा दूसरे में विचार विकल्प के अन्तर्गत होता है (the former being thinking in categories and the latter being thinking under categories) इनमें किसी में भी विश्वास, विचार–जन्य नहीं होता है। ज्ञान के लिए, विचार को विश्वसनीय होना चाहिए। सैद्धान्तिक ज्ञान में विश्वास, संवेदन या संवेदन–प्रदत्तों या स्वलक्षण के बलात् दबाव वश होता है। आत्मा के व्यावहारिक ज्ञान में विचार आत्मा को कारण के रूप में लेता है, ठीक वैसे ही जैसे कारणता के विकल्प में लिया जाता है, लेकिन आत्मा में विश्वास, संकल्प के द्वारा या विचार के साक्षात्कार द्वारा आता है (Bhattacharya, G.N., 1958, 302–303)। संकल्प–स्वातंत्र्य का स्वसंवेदन (introspection) से

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

ज्ञान नहीं होता है। कांट इसका खंडन करता है। स्वसंवेदन से मन का विवरण व्याख्या के बिना प्राप्त होता है। मानसिक तथ्य देशकालिक तथ्यों की तरह देश में नहीं होते हैं। बाह्य जगत् में परिवर्तन का संकेत ग्राह्य दैशिक वस्तुओं के परिवर्तन से होता है। बाह्य वस्तुओं का ज्ञान संवेदन की सामग्री के रूप में ग्राह्य पदार्थों के दैशिक ग्रहण और बोध से होता है तथा उन पदार्थों के अज्ञात कारण के रूप में स्वलक्षण (thing-in-itself) को माना जाता है। मानसिक क्षेत्र दैशिक नहीं है। अतः परिवर्तन किसका होता है ? यह गूढ़ प्रश्न खड़ा होता है। मानसिक तथ्य जिसमें परिवर्तन होता है, वह क्या है? मानसिक परिवर्तन के आश्रय रूप से रहने वाले किसी तथ्य का परिचय न होने से, मानसिक तथ्य विकट समस्या पैदा करते हैं। अतः मानसिक तथ्य की व्याख्या के लिए काल में आत्मा की स्वतंत्र कारणता के फलस्वरूप कालिक आभासों को मानना पड़ता है। जिस प्रकार हम बाह्य वस्तु को अज्ञात स्वलक्षणों के फलस्वरूप मानते हैं, उसी प्रकार मानसिक तथ्यों को आत्मा की स्वतंत्र कारणता के फलस्वरूप काल में उसके आंतरिक आभास के रूप में लेने पर मानसिक तथ्यों की व्याख्या हो सकती है (Bhattacharya, G.N., 1958, 308)।

बाह्य पदार्थों में परिवर्तन की व्याख्या के लिए हम द्रव्य की संरक्षणता के सिद्धान्त को मानते हैं। (आज हम ऊर्जा के संरक्षण के सिद्धान्त को मानते हैं, कांट के समय में द्रव्य के संरक्षण का सिद्धान्त माना जाता था)। किसी लकड़ी के खण्ड को जलाने के बाद यदि दार्शनिक से पूछा जाता है कि धूम का क्या भार था तो वह लकड़ी के भार में से राख के भार को घटाकर धूम का भार बता सकता है। वह इस तथ्य को मानता है कि द्रव्य का नाश नहीं होता है, केवल रूप परिवर्तन होता है। परिवर्तन नित्यता पर आश्रित होता है, तथा परिवर्तन मात्र अवस्थाओं का होता है (Kant, 1973, 216)। कारणता क्रिया की ओर संकेत करती है, क्रिया बल की तरफ तथा इस प्रकार वह द्रव्य की तरफ उन्मुख कर देती है। कारण–कार्य को परिवर्तन के बिना जन्म नहीं दे सकता है लेकिन परिवर्तन अवस्थाओं का होता है, द्रव्य का नहीं। अतः द्रव्य के संरक्षण का सिद्धान्त बाह्य पदार्थों के सम्बन्ध में माना जा सकता है, लेकिन मानसिक तथ्य के क्षेत्र में इसको मानने में कठिनाई उत्पन्न होती है। बाह्य क्षेत्र में तथ्यों के योग और घटाव से उनके कार्य में घटाव या बढ़ाव दिखाई पड़ता है। लेकिन मानसिक क्षेत्र में

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

तीव्रता में कमी आने पर हमें यह दिखाई नहीं पड़ता है कि कौन सा द्रव्यात्मक खण्ड विखंडित हो रहा है। इसका अर्थ है मानसिक क्षेत्र में द्रव्य या ऊर्जा के संरक्षण का सिद्धान्त घटित नहीं होता है; इसका अर्थ है कि कारणता का प्रत्यय मानसिक क्षेत्र में लागू नहीं होता है। इसलिए भट्टाचार्य जी कहते हैं: This is practically saying that the law of conservation of matter or energy is inapplicable to mind; and it amounts to the statement that the category of causality is inapplicable to mental phenomena (Bhattacharya, G.N., 1958, 310). भट्टाचार्य जी कहते हैं आनुभविक मनोविज्ञान को कांट वर्णनात्मक विज्ञान के रूप में लेता है, व्याख्यात्मक विज्ञान के रूप में नहीं। आन्तरिक संवेदन से संकल्प स्वातंत्र्य का ज्ञान नहीं होता है। इसका प्रकाशन नैतिकता के द्वारा होता है। नैतिक नियम स्वातंत्र्य के बोध (ratio cognoscendi) के लिए आवश्यक है तथा स्वातंत्र्य, नैतिक नियम के अस्तित्व (ratio essendi) के लिए। स्वातंत्र्य, नैतिक नियम के अस्तित्व के लिए तथा नैतिक नियम स्वातंत्र्य के परमार्थिक कारण के रूप में बोध के लिए आवश्यक है। कांट ऐसे विचारकों से असहमति व्यक्त करता है जो नैतिक नियम को आनुभविक आधार पर व्यवस्थित करने की चेष्टा करते हैं। कांट के अनुसार ऐसे विचारक हमें उस भव्य बोध से वंचित कर देते हैं जिसे व्यावहारिक बुद्धि, नैतिक नियम के माध्यम से उद्घाटित करती है, वह बोध जो हमें अतीन्द्रिय आयाम में ले जाकर एक भिन्न अतिविषयक स्वातंत्र्य के प्रत्यय का साक्षात्कार कराता है, और इस प्रकार हमें उस नैतिक नियम से भी वंचित कर देते हैं, जिसे आनुभविक सिद्धान्तों से नहीं पाया जा सकता है (Kant, 2009, 83)।

II

भट्टाचार्य जी द्वारा की गयी काण्टीय दर्शन की व्याख्या को समझने के लिए उनके द्वारा अतिविषयक (transcendental) प्रत्यय का स्पष्टीकरण जिस प्रकार किया गया है उसको समझना आवश्यक है। इस प्रत्यय से मध्यकालीन परम्परावादी ईसाई दार्शनिक परिचित थे। लाइबनित्ज ने इसका प्रयोग ऐसे गणितीय प्रक्रियाओं के लिए किया है जिनके द्वारा उन समस्याओं का समाधान किया जा सकता है जिनका समाधान सामान्यतः अंकगणितीय या बीजगणितीय प्रक्रियाओं से सहज नहीं है (Bax, 1900,94)।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies: AAIS(USA)

कांट ने भी अतिविषयक या ट्रान्सडेन्टल पद्धति का प्रयोग ऐसी समस्याओं के समाधान के लिए किया है जिनका समाधान पारम्परिक तत्त्वमीमांसीय पद्धतियों से सम्भव प्रतीत नहीं होता था। लाइबनित्ज ने इसका प्रयोग गणित में किया, कांट ने दर्शन में। परम्परागत तत्त्वमीमांसा में ज्ञान को वस्तुतंत्र माना जाता था। लेकिन ज्ञान को वस्तु पर निर्भर मानने पर हम अनुभव निरपेक्ष ज्ञान की व्याख्या नहीं कर सकते हैं लेकिन यदि हम यह मानते हैं कि वस्तु संवेदन के संकाय की अपेक्षा के अनुरूप होगी तो अनुभव निरपेक्ष ज्ञान की संभावना मानने में कोई समस्या प्रतीत नहीं होती है (Kant, 1973, xvii)। शुद्ध–बुद्धि की आलोचना का अर्थ पुस्तक या तंत्र की आलोचना नहीं अपितु बुद्धि के लिए स्वबोधात्मक ज्ञान प्राप्त करने के लिए एक आमंत्रण और सुअवसर है जहाँ वह अपने वैध निर्णयों को सत्यापित कर सकती है तथा आधारहीन झूठे प्रत्यारोपों का निवारण अपने नित्य और अपरिवर्तनीय नियमों के माध्यम से स्वस्थापित न्यायाधिकरण के माध्यम से कर सकती है। यह स्वस्थापित न्यायाधिकरण कुछ और नहीं बल्कि शुद्ध–बुद्धि की आलोचना है।

अतिविषयक ज्ञान और अनुभव निरपेक्ष ज्ञान में भेद है। समस्त अतिविषयक ज्ञान, अनुभव निरपेक्ष ज्ञान है, लेकिन समस्त अनुभव निरपेक्ष ज्ञान, अतिविषयक ज्ञान नहीं है। अतिविषयक ज्ञान ऐसे ज्ञान को निर्देश करता है जो अनुभव निरपेक्ष रूप से ज्ञान की संभावना को प्रदर्शित करता है या अनुभव निरपेक्ष रूप से इसके प्रयोग को संभव बनाता है। भट्टाचार्य जी के अनुसार, अतिविषयक को चर्चा के प्रारम्भ में हम यह मान सकते हैं कि अतिविषयक वह तत्त्व है जिसके विषय में निश्चित है कि यह वस्तु के कारण नहीं है। वस्तु का अर्थ ऐसे विषय से है जिसका बोध विषय से भिन्न है। अतः अतिविषयक वह विषय होगा जिसका बोध उससे भिन्न नहीं होगा (Bhattacharya, G.N., 1958, 201)। हम विषय का ग्रहण उसके बोध से भिन्न या उसके बोध से अभिन्न रूप से कर सकते हैं। दूसरे विकल्प का उदाहरण हमें भ्रमात्मक ज्ञान में मिलता है जहाँ विषय अविश्वास से अभिन्न होता है और आत्माविषयक स्वबोध में होता है। भट्टाचार्य जी कहते हैं– To Kant, the transcendental is the self as conscious act or freedom. He does not conceive it as quiescent consciousness or undifferentiated being like Vedāntist, and he vigovously denies

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

intuition of the self. The self is to him an active consciousness of or conscious act, whether as knowing or as willing. The primitive act is not unconscious, as it is conceivedby Fichte, but conscious freedom in willing and conscious appereception in knowing (Bhattacharya, G.N., 1958, 301).

मनोवैज्ञानिक और अतिविषयक तत्त्वों में भेद भी कांट के दर्शन में महत्त्वपूर्ण है। बिना इसके ज्ञान के हम मनोवैज्ञानिक आत्मनिष्ठता तथा अतिविषयक आत्मनिष्ठता में भेद नहीं कर सकते हैं। मनोवैज्ञानिक आत्मनिष्ठता वैयक्तिक होती है, अतिविषयक आत्मनिष्ठता, आत्मनिष्ठ होते हुए भी अन्तर्वैयक्तिक होती है। प्रो. मोहन्ती कहते हैं– Psychological subjectivity is in a certain sense private... The transcendental subjectivity is objective universal and necessary. It is shared by all rational beings.This is something which is very important for understanding not merely Kant but also what follows after Kant up to Hegel (Mohanty, 2014, 55).

पूर्वी और पश्चिमी अनेक दार्शनिकों ने विषयी और विषय के भेद को मान्यता दी है। आचार्य शंकर ने ब्रह्मसूत्र पर अपने भाष्य का आरम्भ करते हुए विषयी और विषय का भेद किया है। लेकिन इसके तुरन्त बाद अध्यास की संभावना को प्रदर्शित करने के लिए यह स्वीकार किया है कि विषयी ऐकान्तिक रूप से अविषय नहीं है (न तावदयमेकान्तेनाविषयः)। यहाँ यह प्रश्न खड़ा होता हैः क्या एक ऐसे पद को पाया जाता है जिससे विषयी और विषय दोनों का संकेत किया जा सके ? भट्टाचार्य जी ने ऐसे सामान्य पद के लिए 'वस्तु' का प्रयोग किया है जिसका उपयोग विषयी और विषय दोनों के लिए किया जा सकता है। 'वस्तु' और 'विषय' में भेद है। 'वस्तु' 'विषय' या 'अविषय' हो सकता है। इस 'शब्द' के प्रयोग का महत्त्व दूरगामी परिणाम लिए हुए हैं। कांट के दर्शन में प्रागानुभविक ज्ञाता की एकता को हम अविषय कह सकते हैं, लेकिन 'अ–वस्तु' नहीं कह सकते हैं।

ज्ञान मात्र प्रकाश नहीं है अपितु क्रिया भी है। जब ज्ञान वस्तु को प्रकाशित करता है तो उसके ज्ञान के साथ–साथ वस्तु और प्रकाश के मध्य भेद की उपलब्धि भी होती है। इस भेद का जनक होने के कारण ज्ञान को क्रिया कहा जा सकता है और वस्तु का ज्ञापक होने के कारण इसे प्रकाश

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

कहा जा सकता है (शर्मा, 2020, 169)। प्रकाश वस्तुता की अपेक्षा रखता है, लेकिन वस्तुता प्रकाश की अपेक्षा नहीं रखती है। ज्ञात पदार्थ वस्तु ही होता है, लेकिन वस्तुता और ज्ञातता में भिन्नता है। बाह्य विषय, जब ज्ञान का विषय बनता है तो यह भी अनुभव होता है कि ज्ञात होने के पूर्व वस्तु अज्ञात थी। अर्थात् ज्ञातता उसका आंगतुक धर्म है– वस्तु ज्ञात भी हो सकती है तथा अज्ञात भी रह सकती है। बाह्य वस्तु के सम्बन्ध में यह कथन सत्य है, लेकिन संकल्परूप आत्मा के विषय में भी इसे आंगतुक धर्म माना जा सकता है कि नहीं ? भट्टाचार्य जी का कहना है कि संकल्परूप आत्मा (स्वतंत्र–कृति–रूप आत्मा) का इसे आंगतुम धर्म नहीं माना जा सकता है। आत्मा के लिए यह असंभव है कि वह पूर्णतः अज्ञात हो। आत्मा का कोई ज्ञान, अन्य ज्ञान की अपेक्षा स्फुटतर या अस्फुट हो सकता है, लेकिन उसका पूर्णतः अज्ञान नहीं हो सकता है। इस अर्थ में आत्मा को व्यक्ताव्यक्त वस्तु तथा बाह्य विषय को स्वभाव से ही अव्यक्त कह सकते हैं। व्यक्तता या ज्ञातता उसका आंगतुक धर्म होता है। आत्मा के प्रकाश में पूर्णतर प्रकाश की आकांक्षा बनी रहती है। इसी रूप में उसकी ज्ञातता और वस्तुता का भेद प्रतीत होता है। अतः हम कह सकते हैं कि दोनों प्रसंगों में प्रकाश वस्तुता की अपेक्षा रखता है, पर वस्तुता प्रकाश की अपेक्षा नहीं रखती है।

कांट चेतना को निष्क्रिय प्रकाशक तत्त्व के रूप में नहीं लेता है अपितु क्रियाशील व्याख्यात्मक तत्त्व के रूप में लेता है। एन.के. स्मिथ कहते हैं– "Not passive contemplation but active judgement, not mere conception but inferential interpretation, is the fundamental form, and the only form, in which our consciousness exists.(1918, xiii)" भट्टाचार्य जी भी, कांट के अनुसार चेतना को क्रियाशील और प्रकाशक मानते हैं। कांट ने क्रिया का कोई सामान्य लक्षण नहीं दिया है। उनके लिए विषय की गति भी क्रिया है, आत्मा का संकल्प भी क्रिया है और आत्मा का ज्ञान भी क्रिया है। भट्टाचार्य जी के अनुसार, जिस घटक–पदार्थ का घटकत्व नियत अथवा अवश्यम्भावी हो उसे क्रिया कहते हैं (शर्मा, 2020, 174)। सामान्यतः क्रिया उसे कहा जाता है जो अनायास स्वतंत्र रूप से घटित होती है। फिर नियत–घटकत्व को क्रिया का स्वरूप क्यों कहा जा रहा है? कांट चेतना को मात्र प्रवाहमान धारा के रूप में नहीं लेता है अपितु ऐसी प्रवाहमान धारा के रूप में लेता है जो अपने अनेक मोड़ों पर सापेक्षिक

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

विराम के साथ ज्ञानोपयोगी तत्त्वों का विसर्जन कर देती है। ये ज्ञानोपयोगी तत्त्व बुद्धि–विकल्प, आनुभविक सिद्धान्त तथा संवेदन के आकार हैं। कांट की यह रीति है कि वह स्वच्छन्दता या निर्बन्धता (Spontaneity) की चर्चा के बाद तुरन्त उस स्वच्छन्दाघाटित तत्त्व का विभाग करने लगते हैं। उन्होंने बुद्धि को ज्ञान की उन्मुक्तता कहा है (the sponteneity of knowledge should be called the understanding)। लेकिन इसके तुरन्त बाद उन्होंने बुद्धि के विकल्पों के विभाग की चर्चा प्रारम्भ कर दी है। यह ध्यान रहे कि संवेदनेन्द्रिय, बुद्धि की अपेक्षा से निष्क्रिय है, लेकिन स्वयं वह भी अनुभव निरपेक्ष संवेदनों के आकार का स्रोत होने कारण निरपेक्षतः निष्क्रिय नहीं है। बुद्धि और इन्द्रिय दोनों क्रियाशील है। कांट कहता है कि प्रत्यय विचार की निर्बन्धता पर आधारित हैं, तथा तुरन्त इसके बाद वह निर्णयों तथा विकल्पों के प्रकार पर विचार करते हैं। अर्थात् स्वच्छंद क्रिया और नियत घटकता का विरोध कांट के दर्शन में नहीं माना गया है। वे एक दूसरे को गरिमा प्रदान करते हैं। इस प्रकार कांट कलात्मक क्रिया और यांत्रिक क्रिया दोनों का समन्वय करते हुए प्रतीत होते हैं। निर्बन्धता, कलात्मकता का लक्षण है; निर्णयों का, बुद्धि–विकल्पों का तथा आनुभविक सिद्धान्तों का विभाग यांत्रिकता का लक्षण है। कलात्मक और यांत्रिक क्रिया का समन्वय बौद्धिक–क्रिया के आयाम के रूप में फलित होता है।

काश्मीर शैव दर्शन की शब्दावली का प्रयोग करके हम कांट के दर्शन में ज्ञान को प्रकाश और विमर्श (क्रिया) दोनों कह सकते हैं। निम्नांकित सारिणी के माध्यम से दोनों में कुछ और समानताओं का निदर्शन कर सकते हैं:

1. अतिविषयक ज्ञाता की एकता	शिव–शक्ति तत्त्व (अभेदात्मक)	अहम्– अस्मि (मैं हूँ) शुद्ध– विषयी (without object & consciousness)
2. बुद्धि–विकल्प	सदाशिव तत्त्व	अहं–इदम् (मैं यह हूँ)
3. बुद्धि का तार्किक प्रकार्य या निर्णय	ईश्वर तत्त्व	इदं–अहम् (मैं यह हूँ)
4. शुद्ध–बुद्धि के आनुभविक सिद्धान्त तथा देशकाल	शुद्ध विद्या तत्त्व	अहं च इदं च (मैं हूँ तथा यह है)

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

'अहमस्मि' (I am) के रहस्यवादी प्रकृति से पूर्वी और पाश्चात्य दोनों परम्पराएँ परिचित है। इसकी व्याख्या काश्मीर शैव दर्शन और कांट के दर्शन में एक ही नहीं है, फिर भी यह सूत्र दोनों दर्शनों में उपलब्ध है। कांट यह प्रतिपादित करता है कि अतिविषयक ज्ञाता की एकता समस्त मानवीय ज्ञान का मुकुट है (Kant, 1973, 135)। काश्मीर शैव दर्शन में भी शिव–षक्ति के अभेदात्मक स्वरूप को शुद्ध–विषयी के रूप में स्वीकार किया है। कांट के दर्शन में काश्मीर शैव–दर्शन में मान्य अन्य सूत्रों के दर्शन नहीं होते हैं, लेकिन इन सूत्रों के लिए भी कांट के दर्शन में स्थान बनाने में कोई कठिनाई प्रतीत नहीं होती है। बुद्धि–विकल्पों को कांट अव्यक्त रूप से ज्ञात की एकता का स्वरूप मानता है। इस अर्थ में यहाँ अहम्–अंश को स्फुट तथा इदम्–अंश को अस्फुट कहा जा सकता है। निर्णयों का आकार भाषायिक होता है। अतः इसमें इदम्–अंश को स्फुट तथा अहम्–अंश को अस्फुट कहा जा सकता है। बुद्धि–विकल्पों के आकारीकरण की प्रक्रिया के कारण आनुभविक सिद्धान्तों की उपलब्धि होती है। देश और काल को कांट संवेदन के शुद्ध आकार के रूप में लेता है। अतः यहाँ अहम्–अंश और इदम्–अंश दोनों की प्रतीति होती है। इसे काश्मीर शैव दर्शन के शुद्ध–विद्या के स्तर के समकक्ष देखा जा सकता है। काश्मीर शैवदर्शन और कांट के दर्शन में मुख्य भेद यह है कि सृष्टिविकास की प्रक्रिया में इन सूत्रों की व्याख्या मात्र आकार जनकता के रूप में नहीं होती है अपितु आकार के साथ द्रव्य (matter) जनकता के रूप में भी होती है। कांट के दर्शन में इनकी व्याख्या आकार (form) जनकता के रूप में करनी होगी, क्योंकि कांट के दर्शन में द्रव्य की प्राप्ति अज्ञात स्वलक्षणों के व्यापार पर निर्भर होता है। यदि स्वलक्षणों (things-in-themselves) को न माना जाय तो सृष्टि काल्पनिक हो जायेगी। अतः काश्मीर शैव दर्शन में शिव–शक्ति (अहमस्मि) सृष्टि– प्रक्रिया में आकार और द्रव्य दोनों को प्रसूत करते हैं, जबकि कांट के दर्शन में शिव–शक्ति (I am) मात्र आकार को जन्म देते हैं। लेकिन इस भेद के होने पर भी दोनों में महत्त्वपूर्ण साम्यता यह है कि दोनों, ज्ञान को प्रकाश और क्रिया मानते हैं तथा सृष्टि विकास की प्रक्रिया 'अहम्' से 'इदम्' तक की यात्रा में 'अहम्–इदम्' मिश्रित अनेक पड़ाव रेखांकित किये जा सकते हैं।

आत्मज्ञान की ललक के कारण पूर्वी और पाश्चात्य दोनों परम्पराओं के दार्शनिकों ने 'अहमस्मि' के रहस्य को समझने में रूचि दिखाई

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

है। ग्रीक परम्परा के एक प्रमुख संत और दार्शनिक माइलेटस केथेलिज (324 / 325–448 / 545) ने यह स्वीकार किया है कि सबसे कठिन कार्य– जीवन में अपने आप को जानना है। विभिन्न पाश्चात्य दार्शनिकों जैसे संत आगस्ताइन, देकार्त, स्पिनोजा, कांट, फिक्टे, हुसर्ल, मार्टिन बुबर, श्रोडिंगर, पाल टिलिख आदि ने जो आत्म–मीमांसा में जो गहरी रूचि दिखायी है, उसे मात्र बौद्धिक विचिकित्सा के शमन के रूप नहीं देखना चाहिए, अपितु उनके द्वारा अपनी दार्शनिक परम्परा को समझने के प्रयास के रूप में देखना चाहिए, उस परम्परा को समझने के प्रयास के रूप में देखना चाहिए जिसके धर्मग्रंथ में 'मैं हूँ' को ईश्वर का नाम बताया गया है। तोराह या मूसा की पंच–पुस्तिकाएँ यहूदी धर्म का मूल धर्मग्रन्थ है। बाइबिल के प्रथम भाग की पांच पुस्तिकाएँ ही मूसा की पंच–पुस्तिकाएँ हैं। इसकी प्रथम पुस्तिका उत्पत्ति में यह बताया गया है कि परमेश्वर ने मनुष्य को अपने स्वरूप के अनुसार तथा समानता में बनाया है। यहाँ यह प्रश्न स्वभाविक रूप से उत्पन्न होता है कि वह समान बिन्दु या तत्त्व क्या है ? यह मूल तत्त्व अन्य कुछ नहीं अपितु अतिविषयक मूल बिम्ब 'अहम्' है ओर मानव मात्र में पाया जाने वाला अहम्–विमर्श इसी का प्रतिबिम्ब है। 'मैं हूँ' यह ईश्वर का नाम है।

इसका स्पष्टीकरण द्वितीय पुस्तक निर्गमन में किया गया है। जब परमेश्वर ने मूसा को दर्शन दिया और उनसे यह संदेश इस्राएलियों को भेजना चाहा कि परमेश्वर इस्राएलियों की सहायता करेगा तो मूसा ने प्रश्न किया : जब मैं इस्राएलियों के पास जाकर उनसे यह कहूँ कि तुम्हारे पितरों के परमेश्वर ने मुझे तुम्हारे पास भेजा है, तब यदि वे मुझसे पूछे कि उसका क्या नाम है? तब मैं उनको क्या बताऊँगा ? तब परमेश्वर ने मूसा से कहा, 'मैं जो हूँ सो हूँ'। फिर उसने कहा, तू इस्राएलियों से कहना, कि जिसका नाम 'मैं हूँ' है उसी ने मुझे तुम्हारे पास भेजा है। फिर परमेश्वर ने मूसा से यह भी कहा, कि तु इस्राएंलियों से यह भी कहना....देख, सदा तक मेरा यही नाम रहेगा, और पीढ़ी पीढ़ी में स्मरण इसी से हुआ करेगा (निर्गमन 3–13–15)। मूसा और ईश्वर के मध्य यह संवाद दर्शन और धर्म की दृष्टि से अत्यंत महत्वपूर्ण है। 'I am' or 'अहमस्मि' या 'Eheye' प्रणव की तरह ही ईश्वर का पवित्र नाम है। इस संवाद की तुलना बृहदारण्यकोपनिषद् में पायी जाने वाली आख्यायिका के साथ उल्लेखनीय है। पहले यह पुरुषाकार आत्मा ही था। उसने आरम्भ में 'अहमस्मि' ऐसा कहा, इसलिए वह 'अहम्' नाम वाला

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

हुआ। इसी से अब भी पुकारे जाने पर पहले 'अयमहम्' ऐसा ही कहकर उसके पश्चात् अपना जो दूसरा नाम होता है वह बतलाता है; आचार्य शंकर ने इस प्रसंग की व्याख्या करते हुए कहा कि पहले यह कारण रूप प्रजापति में यह वृतान्त घटित हुआ इसलिए एतर्हि– इस समय भी उसके कार्य जीवों में जब किसी को 'तू कौन है' ऐसा कहकर पुकारा जाता है तो वह पहले अपने को कारण रूप नाम से बताकर फिर जो विशेष पिण्ड का अभिधान करने वाला जो नाम है उससे बताता है। दोनों कथाएँ विभिन्न परम्परा से सम्बन्धित हैं ,लेकिन दोनों में अद्भुत समानता है। 'अहमस्मि' का ज्ञान मानव को परमात्मा के द्वारा आवंटित है। दोनों कथाओं में 'अहमस्मि' परमात्मा का पवित्र नाम है। इसलिए अद्वैत वेदान्त में 'अहम्' का लक्षणार्थ परम् तत्त्व आत्मा ही है (स्वामी, करपात्रीजी, 1985/86, 26)। लेकिन सबसे आश्चर्यजनक पहलू यह है कि दोनों कथाओं ईश्वर के नाम के लिए जिस शब्द का प्रयोग किया गया है, उसमें आश्चर्यजनक समानता है। हिब्रू शब्द 'अहेये' और संस्कृत शब्द 'अहम्' के ध्वनि में समानता कृत्रिम नहीं है। दोनों परम्पराओं के मनीषी इस नामोपलब्धि की दृष्टि से सामान्य आध्यात्मिक धरातल पर लगते हैं। महान भाषाविद् हुम्बोल्ट ने विभिन्न भाषाओं में अक्षरों के ध्वनिगत समानता का कारण संवेदनात्मक पहलू (feeling element) को माना है। उदाहरण के लिए 'st' की ध्वनि स्थिरता की, 'l' की ध्वनि द्रवता या विचलने की और 'v' की ध्वनि अस्थिर गति को संकेत करती है (Cassirer, 1980, 192)। अध्यात्मिक दृष्टि से ध्वनिगत समानता नादात्मक अव्याकृत ध्वनि को सूचित करती है। यह समानता बैखरी स्तर पर पायी जाने वाली अर्थगत समानता से भी अधिक महत्त्वपूर्ण है। प्लेटो के संवाद क्रैटिलस में सुकरात ने एक प्राचीन कहावत का उल्लेख किया है जिसके अनुसार 'शुभ' को जानना कठिन है, और इसके नामों का ज्ञान 'शुभ' के ज्ञान का एक महत्वपूर्ण अंश है। सुकरात हरमोजेन्स को बताता है कि मूल नामों को उच्चारण की सुविधा की दृष्टि से बदल दिया गया है। यह कहा जा सकता है कि 'अहेये' या 'अहम्' मूल नामों के उदाहरण हैं। इस दृष्टि नैयायिकों के इस सिद्धान्त का औचित्य कि 'इस पद से इस अर्थ का बोध ईश्वरीय–इच्छा के कारण है' कुछ सीमा तक सत्य प्रतीत होता है। यदि हम हुम्बोल्ट की दृष्टि पर ध्यान देते हैं तो यह मानना पड़ेगा कि सांस्कृतिक, पारम्परिक और भाषायिक विषमता और देश–काल में असंबद्धता के रहने पर भी भाषाओं में

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

जो समानता पायी जाती है उसका कारण मानवीय संवेदनता की समानता है। हुम्बोल्ट कहते हैं कि 'st' की ध्वनि स्थिरता का निर्देश करती है। इसका उदाहरण हम अंग्रेजी शब्द 'Station' और संस्कृत शब्द 'स्था' में देख सकते हैं। 'l' द्रवीभूत अवस्था या द्रव को सूचित करता है। इसका उदाहरण 'love', जल 'oil', 'लाल', 'लावण्य' आदि में देख सकते हैं। इसी प्रकार यह कहा जा सकता है कि 'अहम्' शब्द या 'अहेये' शब्द की ध्वनि में समानता का कारण परमेश्वर की अनुभूति या संवेदना है। 'अहमस्मि' का ज्ञान दोनों परम्पराओं की साझा धरोहर है, यद्यपि इसका विवेचन विभिन्न दार्शनिकों और संतों ने अपने ढंग से किया है।

भट्टाचार्य जी कांट के दर्शन की व्याख्या करते हुए यह मानते हैं कि आत्मा की ज्ञातता सप्रकारक नहीं होती है। कांट की शब्दावली में आत्मा का ज्ञान बुद्धि–विकल्पों के द्वारा नहीं होता है। विषय की ज्ञातता प्रकार–ज्ञातता होती है, बुद्धि–विकल्पों के द्वारा होती है, अतः उसे प्रमात्मक या अप्रमात्मक कहा जा सकता है (Mohanty, 2011, 119)। कांट अतिविषयक ज्ञाता के ज्ञान को मान्यता नहीं देता है, लेकिन भारतीय दर्शन की शब्दावली का प्रयोग करके यह कहा जा सकता है कि उसका निर्विकल्पक ज्ञान मानने में कोई परेशानी नहीं है। निर्विकल्पक ज्ञान को विश्वनाथ भट्टाचार्य न प्रमात्मक मानते हैं ओर न अप्रमात्मक। कांट इसके प्रमात्मक ज्ञान का इसलिए निषेध करता है कि न ही इसका संवेदन होता है और न ही बुद्धि–विकल्प रूपी प्रकार इस पर घटित होते हैं। विशेषण और विशेष्य के सम्बन्धों का ग्रहण करके जो ज्ञान होता है, वह सप्रकारक होता है। उसे प्रमात्मक या अप्रमात्मक कहा जा सकता है लेकिन जहाँ प्रकार आदि से शून्य ज्ञान होता है, वह निष्प्रकारक ज्ञान होता है। उसे प्रमात्मक या अप्रमात्मक नहीं कहा जा सकता है (न प्रमा नापि भ्रमः स्यात् निर्विकल्पकम्। प्रकारतादि शून्यं हि संबन्धानवगाहि तत्–न्याय–सिद्धान्त मुक्तावली, 135/136)। हमें अतिविषयक ज्ञाता की एकता का निर्विकल्पक ज्ञान होता है लेकिन उसे हम प्रमात्मक या अप्रमात्मक नहीं कह सकते हैं। इस प्रकार कांट के अभिप्राय के साथ न्याय कर सकते हैं जिसकी रक्षा के लिए वह अतिविषयक ज्ञाता की एकता का ज्ञान नहीं मानता है।

III

कांट के दर्शन में ज्ञान का लक्ष्य वस्तुता निश्चय है। भट्टाचार्य जी

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

के अनुसार कांट दो प्रकार का ज्ञान मानते हैं, संकल्पात्मक या कृत्यात्मक आत्म–ज्ञान तथा असंकल्पात्मक स्वतंत्र विषय ज्ञान। इन दोनों प्रकार के ज्ञानों का लक्ष्य वस्तुता निश्चय है। वस्तुता तीन आकारों में प्रगट होती है– 'है' या 'नहीं है' या 'है नहीं'। भट्टाचार्य जी ने बांग्ला भाषा के 'बटे' शब्द का प्रयोग किया है जिसका हिन्दी अनुवाद मुकुन्द जी ने 'है'(तो) सही' किया है तथा अंग्रेजी अनुवादक ने इसका अनुवाद 'true' किया है (Mohanty, 2011, 59)। 'है सही' का प्रयोग एकाकी रूप से भी किया जा सकता है तथा संयुक्त रूप से भी। अतः जिसके बारे में 'नहीं है' यह ज्ञान हो ,उसे 'नहीं है सही' जो 'है' उसे 'है सही' कह सकते हैं। अतः भट्टाचार्य जी कहते हैं कि वस्तुता का निर्देश सर्वत्र 'है सही' के द्वारा और ज्ञातता का निर्देश 'यह है सही' के द्वारा किया जा सकता है।

यहाँ यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि इस प्रकार के बौद्धिक व्यायाम की क्या आवश्यकता है? इसकी आवश्यकता इसलिए है कि यह निर्धारण करना है कि 'चाहिए' या विधि की वस्तुता का स्वरूप क्या है ? प्राकृतिक तत्त्वमीमांसा 'है' पर व्यवस्थित है; नैतिक तत्त्वमीमांसा 'चाहिए' (ought) या विधि पर। क्या 'चाहिए' को 'है' कह सकते हैं ?क्या 'चाहिए' को तथ्य (fact) कह सकते हैं। विषय की तथ्यता आगंतुक होती है। विषय को वस्तुता ज्ञान में परिवर्तन के कारण उसके अस्तित्व में नास्तित्व की कल्पना होती है। परिवर्तन आंगतुक तथ्यों का स्वरूप होता है। उनके ज्ञान में अस्ति के साथ नास्ति का प्रसंग खड़ा होता है। लेकिन इस प्रकार का प्रश्न संकल्पात्मक आत्मा के विषय में नहीं खड़ा होता है। कांट का नैतिक नियम संकल्पात्मक आत्मा से अभिन्न है। कांट 'चाहिए' को तथ्य के रूप में स्वीकार करता है (Kant, 2009, 297)। इसकी तथ्यता की व्याख्या कैसे की जा सकती है। भट्टाचार्य जी के अनुसार 'चाहिए' की तथ्यता 'न है, न नही है' कही जा सकती है। अपने एक लेख 'Fact and Thought of Fact' में भट्टाचार्य जी कहते हैं : There may be believed contents like the moral 'ought' or freedom which are facts that are neither existent nor non-existent (Bhattacharya, G.N., 1958, 169). वह पुनः कहते हैं : It may be contradiction to speak of a content as both existent and non existent but to say that it is neither is only to imply that it is not thinkingly known, that it is impossible to thought but not that it

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

must be unreal. The impossible may be fact, though this 'may be' is a motiveless possibility to logic, a possibility that cannot be thought but cannot also be rejected by thought (Bhattacharya, G.N., 1958, 175).

तार्किक प्रत्यक्षवादी ए.जे. एयर आदि 'चाहिए' की तथ्यता को आगंतुक तथ्यों की तरह पकड़ा चाहते थे, इसलिए उनके दर्शन में इस प्रकार की तथ्यता अमान्य है। भट्टाचार्य जी कहते हैं कि 'चाहिए' के नैतिक रूप को 'न है, न नहीं है' के रूप में तथ्यात्मक मान्यता दी जा सकती है। व्याघात तभी उपस्थित होता है जब हम किसी विषय को 'है और नहीं है' दोनों कहते हैं। लेकिन जब हम कहते हैं कि 'यह न है, न नहीं है' तो इसका अर्थ मात्र इतना ही है कि यह चिंतनात्मक ढंग से ज्ञात नहीं है, इसका चिंतन असंभव है, लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है कि यह अवश्य अयथार्थ है। भट्टाचार्य जी चिन्तन को सीमित अर्थ में लेते हैं। चिंतन में अस्तित्व का प्रश्न छुपा रहता है वह कहते हैं: Nothing is properly said to be thought which does not imply the question of existence (Bhattacharya, G.N., 1958, 169). अतः भट्टाचार्य जी कहते हैं कि जो चिन्तन के लिए असंभव है वह तथ्य हो सकता है, यद्यपि 'हो सकता है' एक अनचाही संभावना (motiveless possibility) तर्कशास्त्र के लिए है, एक संभावना जिसका चिंतन नहीं किया जा सकता है, लेकिन इसका निषेध भी चिंतन के द्वारा नहीं किया जा सकता है।

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि नैतिक प्रत्यय 'चाहिए' की वस्तुता को 'हो सकता है' (may be) के रूप में देखा जा सकता है। कांट के दर्शन का तात्पर्य नामक ग्रंथ में 'हो सकता है' को ही 'बटे' या 'है (तो) सही' शब्द से अभिव्यक्त किया गया है।

आगंतुक तथ्यों अथवा विषय पदार्थों के क्षेत्र में दो प्रकार के विधानों का भेद किया जा सकता है– मुख्य विधान तथा गौण विधान। विषय पदार्थ 'है' अथवा 'नहीं है' मुख्य विधान है। विषय के संभावना निश्चय और अवश्यम्भाव निश्चय को गौण विधान कहा जा सकता है। विषय पदार्थ के क्षेत्र में ये विधान स्वीकार करने होंगे, लेकिन विधि या स्वतंत्र कृति–रूप आत्मा या संकल्पात्मक आत्मा का न गौण विधान निश्चय होता है, न मुख्य विधान निश्चय।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

भट्टाचार्य जी द्वारा किया गया आभासात्मक वस्तुता का विवेचन रूचिकर है। सामान्यतः हम तथ्यों को पृथक् पृथक् करके विधान करते हैं। 'पुस्तक कुर्सी पर है' या 'पुस्तक कुर्सी पर नहीं है' यह दो तथ्य हैं, तथा पृथक् पृथक हैं। लेकिन कल्पना करें कि एक गरीब आदमी बाजार में घर के लिए सामान खरीदने जाता है, और वह मात्र एक दिन के लिए ही सामान लाता है। लेकिन सामान के लाते समय उसे यह चिंता या विचार भी रहता है कि ये सामान समाप्त हो जायेगा। कल के लिए व्यवस्था करनी पड़ेगी। अर्थात् सामान की वस्तुता में न केवल अस्तित्व को देखता है अपितु नास्तित्व को भी देखता है। लेकिन दोनों समान स्तर पर नहीं होते हैं, एक मुख्य होता है, तथा एक गौण होता है। विषय का अस्तित्व ज्ञान मुख्य ज्ञान होता है,नास्तित्व ज्ञान अमुख्य होता है। अस्तित्व– ज्ञान प्रत्यक्ष या प्रत्यक्ष से उद्भूत ज्ञान होता है। विषय के नास्तित्व–संभावना का ज्ञान उसके अस्तित्व–ज्ञान की अपेक्षा करता है। लोक व्यवहार में तथ्यों के सम्बन्ध में अस्तित्व के साथ नास्तित्व को देखना पड़ता है। हम कोई योजना बनाते हैं, हम किसी उद्योग धन्धे से सामान का उत्पादन करते हैं, तो उसके अस्तित्व के साथ नास्तित्व के आयाम को नहीं सोचते हैं तो हमारी योजना असफल हो सकती है। यह सत्य है कि अनेक वस्तुएँ क्षण–क्षण परिवर्तित हैं, फिर भी लोक व्यवहार की दृष्टि से उनके विषय में अस्तित्वपरक या नास्तित्वपरक विधान कर सकते हैं। इस दृष्टि से क्रिया का छह प्रकार से भेद जो निरुक्तकार ने किया है, वह अधिक उपयोगी है– उत्पत्ति, अस्ति, परिवर्तित होना, बढ़ना, क्षीण होना तथा विनष्ट होना। लोक व्यवहार में हमें यह अवसर मिलता है कि इन क्रियात्मक व्यापार के स्तर को समझकर हम अपने जीवन के लक्ष्यों और कार्यों की सफलता के लिए सुचारू रूप से योजना बनाएँ। इंन क्रियाओं को मुख्यतः दो प्रकार से देखा जा सकता है अस्तिकारक या अस्ति के संरक्षण की दृष्टि या नास्तिकारक या नास्ति की तरफ उन्मुख करने की दृष्टि से।

उपरोक्त लोक व्यवहार का संकेत इसलिए किया गया है कि व्यवहार में विषयों के वस्तुता ज्ञान में न केवल नास्तित्व की कल्पना होती है, उसकी नास्तित्व संभावना का ज्ञान भी बना रहता है। स्वतंत्र–कृत–रूप आत्मा के वस्तुता ज्ञान में अस्ति–नास्ति प्रसंग नहीं खड़ा होता है। लेकिन विषयों के सम्बन्ध में होता है। भट्टाचार्य जी कहते हैं कि जिसके बारे में 'है',

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

यह ज्ञान होता है, उसके बारे में यह ज्ञान भी होता है कि 'यह नहीं भी हो सकता है'। नास्तित्व संभावना कल्पित पदार्थ आभास है। यह आभास ज्ञात विषय–वस्तु में नियत है, इसलिए ज्ञात विषय को आभासात्मक वस्तु (Phenomenal reality) कहा जा सकता है। भट्टाचार्य जी कहते हैं कि नास्तित्व संभावना का ज्ञान उसके अस्तित्व ज्ञान की अपेक्षा रखता है और उसी प्रकार का ज्ञान होता है। ज्ञात–विषय की ज्ञात, अर्थात् अस्तिरूप से व्यक्त नास्तित्व संभावना को ही उसका प्रकार या विशेषण कहना चाहिए। और यों, ज्ञात विषय को सप्रकारक या आभासात्मक वस्तु कहा जा सकता है (शर्मा, 2020, 172)।

इसे हम आभासात्मक तथ्य भी कह सकते हैं। इस प्रकार के तथ्य की वस्तुता का विधान हमारे लौकिक व्यावहारिक तथ्यों के साथ अधिक संगतिपूर्ण प्रतीत होता है। इसे हम चरात्मक तथ्य (dynamic) कह सकते हैं। इसके चरात्मकता का रहस्य मुख्य–विधान के साथ गौण विधान के कारण है। तार्किक प्रत्यक्षवाद या अणुवाद में तथ्य अचरात्मक (static) हैं। क्योंकि वहाँ विधान एक ही प्रकार का होता है– अस्ति का या नास्ति का। भट्टाचार्य जी का चरात्मक आभासात्मक तथ्य का सिद्धान्त लोक व्यवहार के साथ अधिक न्याय करता हुआ प्रतीत होता है।

आभासात्मक वस्तुता का विवेचन हमें परमार्थ आत्मा की वस्तुता की भी याद दिला देता है। नैतिक नियम, स्वतंत्र–संकल्पात्मक या कृति–रूप आत्मा का बोध करा देता है। एक ही आत्मा का ज्ञान भी होता है तथा ध्यान भी होता है। आत्म–ज्ञान में आत्मा अविषय भाव लिए प्रतीत होती है, जबकि आत्म–ध्यान में विषय भाव लिए प्रतीत होती है। नैतिक नियम हमें सर्वोच्च तथा पूर्ण शुभ की प्राप्ति के लिए प्रेरित करता है। इस लक्ष्य के साक्षात्कार के लिए व्यावहारिक बुद्धि की तीन पूर्वमान्यताओं को मानना पड़ता है– आत्मा की अमरता, स्वतंत्रकारणता तथा ईश्वर की सत्ता। इन तीनों का ध्यानात्मक निश्चय होता है। ये शुद्ध बौद्धिक श्रद्धा के विषय हैं। अपने एक लघु निबन्ध– What Does It Mean to Orient Oneself in Thinking – में कांट कहता है : शुद्ध बौद्धिक श्रद्धा एक दिशा सूचक यंत्र की तरह है जिसे अन्य सभी श्रद्धाकारों के पूर्व रखा जा सकता है, हाँ, इसे प्रत्येक प्रकाशन के पूर्व रखा जा सकता है (Mohanty, 2014, 13)। इस प्रकार की श्रद्धा, कांट की दृष्टि में दार्शनिक जीवन की सार्थकता को पूर्ण

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

करने की दृष्टि से आवश्यक है। भट्टाचार्य जी द्वारा जो कांट की व्याख्या की गयी है उसको समझने के लिए निम्नांकित बातों को ध्यान से रखने से पाठकों को आसानी हो सकती है :

1. भट्टाचार्य जी नव्यन्याय की शब्दावली का प्रयोग करते हैं लेकिन वह नव्यन्याय की वस्तु–मीमांसा और प्रमाणमीमांसा की सीमा से बधें हुए नहीं हैं।
2. संकल्पात्मक या कृतितन्त्र आत्मज्ञान और अकृत्यात्मक स्वतंत्र विषयज्ञान का साधारण धर्म वस्तुता निश्चय है। मूलतः निश्चितता दो प्रकार की है– ज्ञान निश्चय और ज्ञानेतर निश्चय या ध्यान निश्चय (Contemplative Certainty)। ज्ञान के अतिरिक्त सभी प्रकार की निश्चितता को ध्यान–निश्चय के अन्तर्गत रखा गया है।
3. ज्ञान, प्रकाश और क्रिया (विमर्श) दोनों है।
4. आत्मा का ज्ञान भी होता है तथा ध्यान भी होता है। पूर्वमान्यता के अन्तर्गत आत्मा के ध्यान का प्रसंग है। ज्ञान में आत्मा अ–विषय तथा ध्यान में विषय होती है।
5. ज्ञानप्रसंग में निर्णय के विधेय विशेषण होते हैं, जबकि ध्यान के प्रसंग में विशेष्य होते हैं।
6. धर्म की प्रतिकूल वेदना में यह भ्रम जागता है कि ध्येय आत्मा ज्ञेय अविषय है, यह ज्ञेय आत्मा ध्येय विषय है। भ्रम के इन दोनों रूपों को यथाक्रमेण धर्माभिमान और धर्मविलास का आलम्बन कहा जा सकता है (शर्मा, 2020, 159)।
7. आत्मा का ध्यानात्मक निश्चय, श्रद्धात्मक निश्चय तथा विषय का ध्यानात्मक निश्चय, सौन्दर्य और महाभावात्मक विषय आदि के प्रसंग में आनन्दात्मक निश्चय कहलाता है। श्रद्धाध्यान में आलम्बन आत्मा होता है; आनन्दध्यान में विषय ही आलम्बन होता है (शर्मा, 2020, 244)।
8. भट्टाचार्य जी द्वारा की गयी निश्चय परीक्षा भी श्रद्धात्मक अध्यवसाय और कृत्यात्मक आत्मज्ञान का विश्लेषणात्मक विस्तार ही है।

IV

भट्टाचार्य जी ने कांट के दर्शन के विषय में जो विचार व्यक्त किया है वह मुख्यतः उसकी तीनों आलोचनाओं को ध्यान में रखकर किया है। कांट ने संवेदनात्मक बुद्धि की परीक्षा (Critique of Judgement) के

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

प्राक्कथन में स्पष्ट रूप से कहा है कि इस ग्रंथ के साथ ही उसकी आलोचनात्मक परियोजना विराम लेती है । लेकिन कांट के विचारों की चर्चा ओपुस पास्टुमम् के बिना अधूरी रहेगी। कुछ व्याख्याकार मानते हैं कि इस ग्रंथ में जिन विचारों का प्रतिपादन किया गया है उनकी संगति 1780 के दशक में प्रतिपादित कांट के विचारों के साथ है; कुछ व्याख्याकार इसके विरोध में मत प्रतिपादित करते हैं (Beiser, 2002, 181–182)। इस ग्रंथ में जिन विचारों का संग्रह है उसका अधिकांश भाग 1997 से प्रारम्भ होता है। 1997 से ही कांट के स्वास्थ्य में गिरावट आने लगी लेकिन 1999 तक कांट के जो विचार सामने आये हैं, उसमें शुद्ध–बुद्धि की मीमांसा में कांट को कुछ भी संशोधनात्मक प्रतीत नहीं होता है। कांट ने फिक्टे की आलोचना में 1799 में कहा– मेरा विचार है कि फिक्टे का विसेन्शाफ्टसलेहर (ज्ञान का विज्ञान) एक पूर्णतः असंगतिपूर्ण तंत्र है। मुझे इस बात के लिए श्रेय देना कि मेरा उद्देश्य केवल अतिविषयक दर्शन का प्रारम्भिक रूप से प्रस्तुत करना था, एक दर्शन के तंत्र को प्रस्तुत करना नहीं था, मेरी समझ के बाहर है। एक इटालियन मुहावरा कहता है: 'ईश्वर हमें मित्रों से बचायें; शत्रुओं से हम स्वयं सुरक्षा कर लेंगे'(Walace, 83)। कांट ने यह प्रतिपादित किया है कि आलोचनात्मक दर्शन में सैद्धान्तिक और व्यावहारिक दृष्टि से कुछ भी परिवर्तनीय नहीं है तथा यह आलोचनात्मक तंत्र एक मजबूत आधार पर टिका है। इसकी मजबूती के लिए कुछ और आवश्यक नहीं है तथा मानवता को अपने सर्वोच्च लक्ष्य की प्राप्ति के लिए आवश्यक है (Wallace, 83)।

1799 के बाद कांट का शरीर बहुत कमजोर होने लगा। कांट के अंतिम दिनों की चर्चा का अच्छी तरह से वयांस्की के संस्मरण से होता है जो कांट के बाद के वर्षों में छाये की तरह कांट के साथ था। ओपुस पास्टुमम के विषय में, उसके अनुसार कभी कांट कहता था कि इसके प्रकाशन के पूर्व मामूली सा कार्य करना है, तथा कभी कहता था मेरी मृत्यु के बाद इसको जलाना होगा (Kant, XVII)। अर्थात् कांट इसके प्रकाशन को लेकर बहुत उत्साहित नहीं था। अतः इस ग्रंथ में प्रतिपादित विचारों को सावधानीपूर्वक ग्रहण करना चाहिए।

इस ग्रंथ के आधार पर नैतिक दर्शन की दृष्टि से एक तथ्य यह समझ में आता है कि कांट, निरपेक्ष आदेश के माध्यम से बिना पूर्व मान्यताओं के उपयोग किये ही ईश्वर को व्यावहारिक रूप से पकड़ता है। यहाँ

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

सैद्धान्तिक बुद्धि और व्यावहारिक बुद्धि का भेद कांट को मान्य है तथा ईश्वर की व्यावहारिक आवश्यकता का ही वह विधान करता है। कांट का ईश्वर न रहस्यवादियों का ईश्वर है, न सैद्धान्तिकों का, जिसे तर्क से सिद्ध किया जा सकता है, अपितु इसकी सत्ता व्यावहारिक दृष्टि से अपेक्षित है। कांट तकनीकीय व्यवहार (Technical Practical) तथा नैतिकीय–व्यवहार (Moral-Practical) में भेद करता है। तकनीकीय व्यवहार वैज्ञानिक विकास के कारण सुख साधनों के उपयोग से सम्बन्धित है, कार्य–कारण पर आधारित है तथा सैद्धान्तिक बुद्धि का विषय है; नैतिकीय–व्यवहार स्वतंत्रता के कारण है। जो स्वतंत्र कारणता के कारण है, उसे नैतिक दृष्टि से व्यवहार कहा जाता है (शर्मा, 2020, 24)। ईश्वर का प्रत्यय नैतिकीय दृष्टि से व्यवाहारिक प्रत्यय है (Kant, 1998, 212)। कांट कहता है कि 'सभी मानवीय कर्तव्यों' को दैवीय आदेश के रूप ग्रहण कराना प्रत्येक नैतिक निरपेक्ष आदेश में पहले से ही विद्यमान है। To prescribe all human duties as divine commands is already contain in every categorical imperative (Kant, 1998, 202).

The ctegorical imperative represents all human duties as divine commands : not histroically, as if [God] had ever issued certain orders to man, but as reason [presents] them through the supreme power of categorical imperative, in the same manner as divine person can rigourously command submission to himself (Kant, 1998, 211-12).

इसका अर्थ है कि निरपेक्ष नैतिक आदेश सभी मानवीय कर्तव्यों को दैवीय आदेश के रूप में प्रस्तुत करता है, इतिहास नहीं, जैसे कोई (ईश्वर) मानव के लिए कुछ आदेशों की कभी देशना किया हो, अपितु निरपेक्ष नैतिक आदेश की सर्वोच्च संप्रभुता के द्वारा जैसे बुद्धि के द्वारा [प्रस्तुत] किया जाय, ठीक वैसे ही जैसे कोई दैवीय परसन (व्यक्ति) कठोरता से अपने सम्मुख झुकने के लिए आदेशित करता है।

कांट यह भी कहता है : The categorical imperative does not presuppose a supremely commaning substance. which would be outside me, but is rather, a command or prohibition of my own reason. Not withstanding this, it is nevertheless to be regarded as

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

proceeding from a being who has irresistible power over all (Kant, 1998, 211).

इसका अर्थ है कि निरपेक्ष नैतिक आदेश एक सर्वोच्च आदेशात्मक द्रव्य की पूर्वमान्यता की अपेक्षा नहीं करता है, जो हमसे बाहर है, अपितु वास्तव में, यह हमारी बुद्धि का आदेश या प्रतिबन्ध है। इसके होते हुए भी इसे (निरपेक्ष आदेश को) तो भी, एक ऐसी सत्ता से आदेशित मानना चाहिए जो सबके ऊपर बलात शासन करती है। धर्म, मानव बुद्धि की मर्यादा के अन्दर नामक ग्रंथ में कांट एक ऐसे राज्य की कल्पना करता है जहाँ पादरी तथा सामान्य मानव के मध्य भेद समाप्त हो जायेगा, क्योंकि ईश्वर की वाणी साक्षात् मानव के नैतिक चेतना के विकास से उसे सुनाई पड़ने लगेगी (Kant, 1960, 122)। इस अर्थ में कांट का स्वर ओपुस पास्टुमम में भी स्पष्ट है कि ईश्वर को स्वीकार करने का रास्ता कर्तव्य कर्म के बोध के बाद दिखाई पड़ता है। स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः।

पूर्व आचार्य एवं विभागाध्यक्ष
दर्शन एवं धर्म विभाग
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी-221005

सन्दर्भ एवं पादटिप्पणी –

1. *Bilimoria, Purushottama (ed.) J.N. Mohanty Essays on Indian Philosophy Traditional and Modern (Oxford University Press 1993), pp. 334-335*
2. *Millington, E.J. (tr.) Aesthetic and Miscellaneous Works of Frederick Von Schlegel (Henry G. Bohn, York Street, London, 1849)*
3. *T.E. Colebrooke(son of H.T.colebrooke), (Ed.) Miscellaneous Essays, by H.T. Calebrooke, Vol. I, (Trubner & Co. London 1873), p. 392*
4. *Bax, Ernest Belfort, Selected Essays of Arthur Schopenhauer (George Bell and Sons, London, 1900)*
5. *Bhattacharya, G.N., (ed.) Studies in Philosophy, Vol. II, (Progressive Publishers, 1958)*
6. *Mohanty, J.N. and Chatterjee, Tara (ed. & tr.) Implications of the Philosophy of Kant, Kāntdarśaner Tātparya, written by Krishnachandra Bhattacharya (ICPR, Oxford University Press, Delhi, 2011)*

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

7. *Mohanty, J.N. Lectures on Kant's Critique of Pure Reaon, ed. by Tara Chatterjee, Sandhya Basu and Amita Chatterjee (Munshiram Manoharlal Publishers Pvt. Ltd., Delhi, 2014)*
8. शर्मा, अम्बिकादत्त (सम्पा.), काण्ट के दर्शन का तात्पर्य, (अनु.) लाठ, मुकुन्द (राजकमल प्रकाशन प्रा.लि., नई दिल्ली : 2020)
9. *Kant, I., The Critique of Practical Reason, tr. by T.K. Abbott (Merchant Books 1788, Impression 2009)*
10. *Kant, I., The Critique of Pure Reason, tr. by N.K. Smith (The Macmillan Press ltd. London 11th Impression 1973)*
11. *Smith, N.K., A Commentary on Kant's Critique of Pure Reason (Macmillan & Comp. Ltd. London 1918)*
12. मिश्र, के.पी. काश्मीर शैव दर्शन : मूल सिद्धान्त (अर्धनारीश्वर प्रकाशन, वाराणसी, 1982)
13. *Mishra, Kamlakar, The Central Philosophy of Tantrism (Sri Satguru Prakashan, Delhi 1999), p. 140*
14. स्वामी करपात्रीजी, वेदान्तसार (केदारघाट, वाराणसी 1985–86)
15. *Cassirer, E., The Philosophy of Symbolic Forms, Vol. I : Language (Yale University Press, New Haven & London, 13th reprints, 1980)*
16. *Bhattacharya, V.,* न्याय–सिद्धान्त–मुक्तावली, हिन्दी अनुवादक गौड़, ज्वालाप्रसाद, संपा. दुण्ढिराज शास्त्री, (चौखम्भा संस्कृत प्रतिष्ठान, देलही, द्वितीय संस्करण, 2003)
17. *Kant, I., What is meant to orient one self in Thinking ? tr. by Daniel Fidel Ferrer (2014).*
18. *Beiser, Frederick C., German Idealism The Struggle Against Subjectivism 1781-1801 (Harvard University Press, Cambridge, Massachusetts, London, England 2002)*
19. *Kant, I., Opus Postumum tr. by Forster and Michael Rosen, ed. by E. Forster (Cambridge University Press, 1993, repprinted 1998)*
20. *Kant,I., Religion Within The The Limits of Reason Alone ,tr.byGreen T.M. & Hudson, H.H., (Harper Torchbooks, London, 1934, reprinted, 1960)*

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

पहचान की राजनीति एवं बौद्धिकता का विमर्शात्मक आरेखन

विश्वनाथ मिश्र एवं कुलदीप शर्मा

नव–वामपंथ, नारीवाद, बहुसंकृतिवाद, समुदायवाद, उत्तर–आधुनिकतावाद और उत्तर–उपनिवेशवाद के विमर्शों में पहचान का प्रश्न एक महत्त्वपूर्ण घटक के रूप में उभरकर सामने आता है। इन विमर्शों में पहचान को एक विशिष्ट सामाजिक–आर्थिक एवं राजनीतिक परिप्रेक्ष्य में व्यक्ति की स्थिति एवं उस विशिष्ट स्थिति से उत्पन्न उसकी भूमिका को पहचान के केन्द्रीय विषय के रूप में स्वीकार किया गया है। पहचान के इन विमर्शों में यह भी संदर्भित है कि व्यक्ति की विशिष्ट पहचान उसे लाभार्थी और शोषित भी बनाती है और विशिष्ट शक्ति संरचना के संजाल को भी लाभान्वित करती है। इन विमर्शों ने यह भी प्रस्तावित किया कि पहचान सदैव स्वैछिक रूप से प्रीतिकर ही नहीं होती है बल्कि किसी विशिष्ट पहचान के प्रति व्यक्ति प्रतिरोध करता हुआ भी पाया जाता है। यह भी ध्यातव्य है कि प्रत्येक पहचान के साथ विशिष्ट भूमिकाएँ, अधिकार अथवा निर्योग्यता सम्मिलित होती है। इसी कारण प्रत्येक पहचान जहाँ मनुष्य को कुछ करने का अधिकार देती है वहीं उसे कुछ न करने के लिए भी आदेशित करती है।

परंपरागत समाजों में जहाँ सामाजिक गतिशीलता की गति धीमी होती थी और जिसके कारण पहचान–परिवर्तन के सीमित अवसर होते थे वहाँ पहचान की राजनीति एवं इस राजनीति को प्रेरित करने वाली बौद्धिकता का एक अलग स्वरुप होता था। जबकि, आधुनिक समाजों में और विशेषकर जन–समाजों में जहाँ सामाजिक परिवर्तन की गति तीव्र होती है और भूमिका–परिवर्तन के अवसर अधिक होते हैं वहाँ पहचान की राजनीति एवं इस राजनीति की बौद्धिकता परंपरागत समाजों की अपेक्षा

उन्मीलन - वर्ष 36, अंक 1, जनवरी–जून 2022
ISSN-0974-0053
U.G.C. Care List : Arts & Humanities, SI.No. 310

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

अलग होती है। किन्तु, यहाँ यह भी द्रष्टव्य है कि पहचान की राजनीति एवं पहचान की बौद्धिकता को लेकर जिन दो वर्गीकरणों की बात की गयी है वे' आइडियल टाइप' हैं। जबकि, सामाजिक जीवन में व्यक्ति पहचान के सन्दर्भ में कभी भी परंपरागत समाजों की मान्यताओं और आधुनिक समाज की मान्यताओं की सम्मिलित क्रिया–प्रतिक्रिया से अप्रभावित नहीं होता है। इसका कारण यह है कि परंपरागत समाजों के पहचान की इकाइयाँ जैसे वंश, लिंग, जाति, धर्म, राष्ट्रीयता आदि का प्रभाव आज भी बना हुआ है। मूलतः व्यक्ति के प्रदत्त पहचान आज भी वही होते हैं जो परंपरागत समाजों में भी प्रचलित थे; किन्तु परंपरागत समाजों के पहचान आधारित भूमिका आधुनिक युग में आकर तेजी से बदल गये हैं। साथ ही समाज की शक्ति संरचनाओं में भी परिवर्तन आया है और विशिष्ट पहचान के साथ विशिष्ट भूमिका को जोड़ने की बौद्धिकता में एक ऐसा खुलापन भी आया है जो एक पहचान के साथ बहुल भूमिका को जोड़ देने की बौद्धिकता की ओर जाता है। फिर भी इस तथ्य से इंकार नहीं किया जा सकता है कि विशिष्ट पहचान एवं उस पहचान से जुड़ी भूमिका को छोड़कर दूसरी भूमिकाओं या अनेक तरह की भूमिकाओं को प्राप्त कर लेने की स्वतंत्रता सभी लोगों एवं सभी समूहों को एक ही तरह से प्राप्त नहीं हैं।

I

राजनीतिक एवं दार्शनिक चिन्तन के इतिहास में पीछे जाकर देखने पर यह स्पष्ट होता है कि पहचान हमेशा से एक ऐसे विवाद–प्रतिवाद का विषय रहा है जिसने समाज, संस्कृति, दर्शन एवं बौद्धिकता को प्रभावित किया है और स्वयं इससे प्रभावित भी हुई है। सुकरात को मृत्युदंड देने वाले एनीटस समूह की यह मान्यता थी कि सुकरात एक नई पहचान की बात कर रहे हैं जो उस समय के पैगन आस्था से जुड़े पहचान को खतरे में डाल देगी। इसी तरह का भय उन रोमन लोगों में भी था जिन्होंने ईसा मसीह को सूली पर चढ़ा दिया था। इन दोनों ही घटनाओं में देह एवं विचार हत्या के जो प्रयास हुए हैं उनके पीछे एक विशिष्ट पहचान से समर्थन पा रही शक्ति संरचना को अपने टूट जाने का भय भी सम्मिलित था। भले ही उस भय को आगे चलकर इतिहास ने झूठा एवं निहित स्वार्थों पर आधारित बताया हो। किन्तु ऐसे कुत्सित प्रयासों पर अब तक लगाम नहीं लग पाया है। गोडसे के द्वारा गाँधी की हत्या के पीछे भी पहचान की राजनीति एवं उस राजनीति की

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

एक विशिष्ट बौद्धिकता काम कर रही थी, ऐसा देखा जा सकता है। गाँधी जिस पहचान की वकालत करते थे वह जाति, लिंग, राष्ट्रीयता, भाषा, पंथ इत्यादि से ऊपर उठकर एक मानवीय पहचान थी। किन्तु, तब के गाँधी हत्या के पैरोकारों जिनकी कमी आज भी नहीं है वे पहचान को जातीय एवं भू–क्षेत्रीय परिधि का विषय मानते रहे हैं। गाँधी के सन्दर्भ से भारत में पहचान के प्रश्न को उभारने के लिए वेदांत मत का सहारा लेते हुए यह कहना समीचीन होगा कि गाँधी जिस पहचान की बात करते थे वह वेदांत आधारित पहचान है। उल्लेखनीय है कि वेदांत में और तदनुरूप गीता में पहचान के लिए 'तटस्थ लक्षण' और 'स्वरुप लक्षण' का उल्लेख किया गया है। मनुष्य के तटस्थ लक्षण के अंतर्गत जिन तत्त्वों को रखा गया है वे भौतिक पहचान के विषय हैं तथा अहम् (ईगो) की चेतना से जुड़े हुए हैं। इनमें जाति, लिंग, भाषा, क्षेत्र, निवास स्थान इत्यादि से जुड़े हुए पहचान सम्मिलित हैं। अद्वैत वेदांत का मत है कि तटस्थ लक्षण आधारित पहचान, इन पहचानों से जुड़ी हुई भूमिकाएँ और इन पहचानों से जुडी हुई संरचनाएँ मनुष्य के भौतिक जीवन के लिए आवश्यक तो होती हैं किन्तु यह मनुष्य का स्वरुप लक्षण नहीं है। मनुष्य के तटस्थ लक्षण से जुड़े पहचान संघर्ष, क्लेश, विषाद एवं विभाजन के कारक होते हैं। इन पर नियंत्रण रखने के लिए मनुष्य में एक उच्च चेतना की तार्किक आवश्यकता होती है। चेतना के उस स्तर पर मनुष्य का जो पहचान बनता है, अद्वैत वेदांत में उसे स्वरुप लक्षण आधारित पहचान कहा गया है। यह एक अनौपाधिक पहचान है जबकि मनुष्य के तटस्थ लक्षण आधारित पहचान औपाधिक पहचान हैं। अनौपाधिक पहचान के अंतर्गत अद्वैत वेदांत मनुष्य को विशुद्ध चैतन्य आत्म–तत्त्व के रूप में देखता है जिसकी कोई लिंग, जाति, भाषा, क्षेत्र आधारित पृष्टभूमि नहीं होती है।

पश्चिमी सांस्कृतिक अध्ययनों में पहचान का विमर्श उत्तरवर्ती आधुनिकता की घटना है, ऐसा माना जाता है। किन्तु, ऐतिहासिक सन्दर्भों पर सूक्ष्म रूप से विचार करने पर यह स्पष्ट होता है कि पश्चिमी परंपरा में पुनर्जागरण एवं ज्ञानोदय के मूल में जिस आधुनिक मनुष्य की अवधारणा समाहित है, वह एक नये पहचान के साथ उत्पन्न हुआ है। वह पहचान है सेक्युलर पहचान अथवा मनुष्य को अ–ऐतिहासिक एवं अ–सामाजिक प्राणी के रूप में पहचानने का प्रयास।[1] पश्चिमी ज्ञानोदय के इस प्रयास के मूल में

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

उस पहचान को त्याग देने की प्रेरणा एक महत्त्वपूर्ण कारक था जिसनें लगभग एक हजार साल के इतिहास में धर्म के नाम पर पाखंड और उससे उत्पन्न संघर्ष एवं विषाद को यूरोप में देखा था। ज्ञानोदय के बाद सैद्धांतिक रूप से मनुष्य को मानव के रूप में पहचानने एवं उसे गरिमापूर्ण जीवन जीने के नैसर्गिक अधिकार पर जहाँ एक ओर पर्याप्त विमर्श होते रहे हैं वहीं दूसरी ओर एक छोटे समूह को पूँजीपति, नौकरशाह, शासक, पादरी आदि की पहचान भी मिलती रही और एक बड़े समूह को मजदूर पहचान मिल गयी। यह जो मजदूर पहचान थी वह एक ऐसी पहचान थी जिसे आधुनिकता को मुक्ति के संवाहक के रूप में स्वीकार करने वालों ने भी श्रेयस्कर नहीं माना था। किन्तु, पहचान के इस यथार्थ ने पश्चिम में पहचान संघर्ष की मार्क्स एवं उनके अनुयायियों के माध्यम से एक ऐसी पटकथा लिखी जिसनें पूरी दुनिया में एक समय पहचान की राजनीति एवं पहचान की बौद्धिकता को दो विरोधी खेमों में लाकर खड़ा कर दिया।

II

आज जब हम पहचान की राजनीति एवं पहचान की बौद्धिकता पर बात करते हैं तब उसकी पृष्ठभूमि में उपर्युक्त समस्त विचार अंतर्निहित होते हैं। इतना अवश्य है कि पहचान की राजनीति एवं पहचान की बौद्धिकता के परंपरागत विमर्शों की अपेक्षा आधुनिक विमर्शों का क्षैतिज एवं ऊर्ध्वाधर विस्तार अत्यंत अधिक है। सामान्यतः परंपरागत समाजों के पहचान को सब्जेक्टिव एवं डिटरमाइंड पहचान कहा जाता है। किन्तु, ऐसा नहीं है कि आधुनिकता की शुरुआत में जिन पहचानों की बात की जाने लगी उनमें सब्जेक्टिविटी एवं डिटरमिनेशन नहीं था। वस्तुतः आधुनिकता के उषाकाल में जिस प्रत्यक्षवाद, अनुभववाद एवं यथार्थवाद की बात सामाजिक वास्तविकताओं को समझने के लिए की जा रही थी उनके अपने पद्धति शास्त्रीय संरचनात्मक दोष भी थे। इन पद्धति शास्त्रीय परिवर्त्यों ने दावा तो यह किया था कि वे मानव जीवन की वास्तविकताओं को प्रकट करेंगे। किन्तु, इन पद्धति शास्त्रीय परिवर्त्यों के द्वारा जिस ज्ञान का उत्पादन किया जा रहा था वह भी वर्गीय एवं जातीय हितों से मुक्त नहीं हो पाया था। इसका एक परिणाम तो यह हुआ कि इन पद्धतियों के सहारे जिस ज्ञान को उत्पन्न करने की कोशिश की गयी और जिस नवाचार को बढ़ावा देने की कोशिश की गयी उसने प्राचीन ज्ञान को पृष्ठभूमि में तो धकेल दिया। किन्तु, लोगों

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

को वास्तविक जीवन में जिस हाशियाकरण का सामना करना पड़ रहा था उसकी उपेक्षा कर दी। ऐसा दो कारणों से हुआ। इनमें से पहले कारण को हम इस रूप में देख सकते हैं कि इन सभी पद्धति शास्त्रीय परिवर्त्यों ने यह स्वीकार किया कि सामाजिक जीवन का एक ही यथार्थ है और उस यथार्थ को वैज्ञानिक प्रविधि का प्रयोग करते हुए जाना जा सकता है।[2] दूसरा कारण यह था कि जिस नये ज्ञान के अलोक में प्रशिक्षित होकर नये अन्वेषक आ रहे थे और जिनके बीच में जाकर उन्हें अनुसन्धान करना था उनके बीच एक बड़ी खाई थी। इस खाई को तथ्यात्मक रूप से हम देखना चाहे तो एफ. डब्लू. टेलर के साइंटिफिक मैनेजमेंट के प्रस्तावों में देख सकते हैं जहाँ वे मिल मालिकों की इस प्रवृति पर प्रहार करते हैं कि मिल मालिकों को मजदूरों के बीच नहीं जाना चाहिए।

कुल मिलाकर आधुनिकता जिस मुक्ति काम्यता का शंखनाद करते हुए उदारवाद एवं पूँजीवाद के सहारे परवान चढ़ रही थी वह धीरे–धीरे अपनी गतिशीलता को खो भी रही थी और अपने ही द्वारा बनाये गये रूढ़ियों में जकड़ती भी जा रही थी।[3] इन सबके परिणामस्वरूप आधुनिकता के एक कालखंड में पहचान धीरे–धीरे एकल कठोरता का विषय बन गया; भले ही पहचान की यह एकल कठोरता प्राचीन समाजों की अपेक्षा कुछ लचीली थी। किन्तु, मनुष्य के समग्र पहचान का प्रतिनिधित्व इसमें नहीं था। वस्तुतः कोई भी मनुष्य एक ही पहचान को धारण नहीं करता है। इतना अवश्य है कि उसके विभिन्न पहचानों में किसी विशिष्ट पहचान की भूमिका सबसे अधिक प्रभावी होती हो। अथवा यह भी संभव है कि व्यक्ति के विभिन्न पहचानों के मध्य संघर्ष की स्थिति भी उत्पन्न होती हो। इसी कारण पहचान के विमर्श को एकल विमर्श के रूप में समझा ही नहीं जा सकता है। इसके लिए आवश्यक है कि पहचान के विमर्श को उन सभी सन्दर्भों से देखा जाये जिनमें मनुष्य का वास्तविक जीवन संचालित होता है। परन्तु प्रत्यक्षवाद, अनुभववाद, यथार्थवाद और आगे चलकर व्यवहारवाद इस तथ्य को समझने में असफल रहे। यही नहीं प्लेटो, हॉब्स एवं हीगल भी पहचान की राजनीति के कुछ घटकों को तो पकड़ पाए और जिसको वे पकड़ पाए उसे ही सर्वस्व मानने लग गये। मार्क्स ने भी यही गलती की। परिणामतः द्वितीय महायुद्ध के बाद जब दुनिया में लोकतंत्र की एक नई लहर आई, सुचना प्रौद्योगिकी का तेजी से विस्तार हुआ और लोगों के पास अनेक तरह की सूचनाएँ

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

पहुँचने लगीं तब इन सबने मिलकर पहचान, भूमिका, प्रतिरोध और पहचान आधारित प्रतिनिधित्व, प्रतिष्ठा तथा पुनर्वितरण को केंद्र में लाकर खड़ा कर दिया। अब मल्टीप्ल आइडेंटिटी, मल्टीफंक्शनल इंडिविजुअल और मल्टीप्ल वे ऑफ इंटरेस्ट आर्टीकुलेसन की बात होने लगी; बहुधा इसे लोकतंत्र की मजबूती के उपक्रम, आधुनिक सभ्यता के अत्यधिक मानवीयकरण का प्रयास और मुक्त समाज के रूप में भी देखा गया। किन्तु, विविधता की यह बाढ़ जनमत के विभाजन और जनमत विभाजन के कारण सामूहिक संघर्ष के लिए अपेक्षित एकजुटता के बिखराव का भी कारण बन गया। इसी कारण पहचान समसामयिक विमर्शों में एक सबसे अधिक जटिल मुद्दों में से एक है।

III

पश्चिमी आधुनिकता के अन्तर्निहित अंतर्विरोधों में पहचान एक महत्त्वपूर्ण प्रत्यय है। यद्यपि आधुनिकता के प्रचार–प्रसार के साथ पहचान आधारित यह अंतर्विरोध अब दुनिया के सभी समाजों की एक प्रवृति बन गयी है। इन प्रवृतियों में समग्र रूप से पहचान के जिन विमर्शों की चर्चा होती है उनमें पहचान की सब्जेक्टिविस्ट धारा, पहचान की रिलेटिविस्ट धारा और पहचान की उत्तर–आधुनिक धारा सम्मिलित है। महायुद्ध के बाद पहचान के जिन विमर्शों ने ज्ञान एवं अनुसन्धान को सबसे अधिक प्रभावित किया है उनमें सांस्कृतिक भौतिकवाद, नव–ऐतिहासिकतावाद, नारीवाद, दलित अध्ययन, समलैंगिकतावादी अनुसन्धान, उत्तर–उपनिवेशवाद एवं अल्पसंख्यक विमर्श तथा राष्ट्रवाद महत्त्वपूर्ण हैं। नववामपंथ का मानना है कि दमन और प्रतिरोध, केंद्र और परिधि तथा मुख्य संस्कृति एवं अधीनस्थ संस्कृति के बीच की बहस पहचान के विमर्श को एक नई दिशा की ओर ले जाएगी। यद्यपि, वह दिशा क्रांति की ही होगी अथवा वह लोकतांत्रिकरण की प्रक्रिया का परिणाम होगी या एक नये तरह की सहमति के साथ प्रतिरोध की दिशा में जाएगी, इस पर नव–वामपंथी एक मत नहीं हैं। उदाहरण के लिए हैबरमास जिस कम्यूनिकेटिव रेशनलिटी की बात करते हैं वह विमर्शात्मक लोकतंत्र की ओर जाता है और इसमें पहचान के बंद दरवाजों को अधिक खुल जाने की सम्भावना है। लेंका के सांस्कृतिक मनोविज्ञान का मानना है कि पहचान पुरुष–केन्द्रित संस्कृति की आत्म–छवि है। जबकि, दरिदा मानते हैं कि पहचान एक विकेन्द्रीकृत प्रक्रिया है जिसमें पुरानी पहचान लगातार विभाजित होती रहती है और नई पहचान का निरंतर सृजन होता

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

रहता है। वस्तुतः दरिदा का यह मत उनके विखंडनवादी सिद्धांत के सर्वथा अनुकूल है। शास्त्रीय मार्क्सवादी सिद्धांतों में पहचान को दो विपरीत ध्रुवों का विषय बना दिया गया था जिसमें एक ध्रुव (पूँजीपति) पहचान एवं पहचान से जुडी संरचनाओं को बनाये रखना चाहता था वहीं पहचान का दूसरा ध्रुव (सर्वहारा) इस पहचान को नष्ट कर देना चाहता था।

वस्तुतः पहचान बहुध्रुवीय ही नहीं बल्कि यह बहु–स्तरीय भी है। उदाहरण के लिए किसी व्यक्ति की भाषाई, जातीय, लिंग–आधारित, विचारधारा जनित, क्षेत्रीय, राष्ट्रीय, व्यावसाय जनित और संप्रदाय आधारित जो पहचान होते हैं उनका स्वरुप बहु–ध्रुवीय होता है और पहचान के इन सभी ध्रुवों पर व्यक्ति अनेक समूहों का सदस्य भी होता है। बहु–स्तरीय पहचान के उदाहरण के रूप में पुत्र, पति, पिता, नाना, बाबा या परदादा, मामा, भाई, चाचा आदि का उल्लेख किया जा सकता है। इस वर्ग के पहचान व्यक्ति को आयु क्रम में परिवार के भीतर प्राप्त होते जाते हैं और इन सभी पहचानों की प्रकृति एक–दूसरे से सहयोगात्मक अर्थ में जुड़ी होती है। जबकि, बहु–ध्रुवीय पहचान के अंतर्गत व्यक्ति जिन समूहों का सदस्य होता है उनमें उसके सम्बन्ध औपचारिक प्रकृति के होते हैं और कई बार यह प्रतिरोधी हितों का भी प्रतिनिधित्व करते हैं। उदाहरण के लिए एक पुत्र के पति या पिता बन जाने में उसे भूमिका संघर्ष की स्थिति में असामान्य परिस्थितियों में ही पड़ना पड़ता है। किन्तु, बहु–ध्रुवीय पहचानों से जुड़े समूहों में भूमिका संघर्ष अस्वाभाविक नहीं होते हैं। उदाहरण के लिए अध्यापन वृत्ति को अपनाने की पहचान व्यक्ति को साम्प्रदायिकता आधारित पहचान वाले समूह की सक्रियता से रोकती है। एक अन्य उदाहरण से भी इस तथ्य को समझा जा सकता है, जैसे न्यायाधीश की पहचान जातीय संगठनों में भागीदारी से रोकती है। इसका अर्थ यह हुआ कि सामाजिक और सांस्कृतिक व्यवस्था शतरंज के खेल या विशाल जाल की तरह होती है जिसमें प्रत्येक व्यक्ति की विशिष्ट सांस्कृतिक, ऐतिहासिक, पारिवारिक, राजनीतिक, व्यावसायिक एवं विचारधारात्मक पहचान उसके लिए खेल के नियम तय करती है। प्रत्येक पहचान खेल में भाग लेने की एक विशिष्ट शैली एवं सीमा, लाभ एवं हानि तय करती है। चूँकि आधुनिक समाजों में शक्ति संरचनाओं, हित समूहों, संचार माध्यमों में मात्रात्मक वृद्धि हुई है इस नाते पहचान आधारित खेल, उसकी शैली एवं खेल के नियमों में अधिक जटिलता आ गयी है।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

आधुनिक समाजों को भले ही हम मुक्त समाज कहते हों किन्तु इस समाज में व्यक्ति पहचान के विभिन्न संजालों में इस तरह उलझा होता है कि वह ज्यादातर समय अपने चालों को एक–दूसरे से छिपाता भी रहता है। परिणामतः जब जब मनुष्य को इस बात का आभास होता है कि वह अपनी पहचानों के कारण स्वतंत्र चयन नहीं कर पा रहा है तब तब उसमें अस्तित्वात्मक पीड़ा भी उभरती है। ऐसे में वह यह समझता है कि वह 'बीइंग' नहीं रह गया है बल्कि 'बिकमिंग' हो गया है और यह सोच उसमें बेगानगी, निराशा, अनमनेपन एवं व्यर्थ होने का बोध भी उत्पन्न करती है।[5]

अस्तित्ववाद के हाथों में पड़कर पहचान एक ओर विशुद्ध दार्शनिक चेतना का विषय होकर हुस्सर्ल के संवृति शास्त्र की ओर जाता है और दूसरी ओर यह पहचान के पूँजीवादी संरचनाओं के प्रति विद्रोह के रूप में कार्ल जैसपर्स एवं फ्रेंजफैनन के रास्ते क्रांति की धारा की ओर जाता है। पहचान और अस्तित्ववाद का सम्बन्ध स्वयं अस्तित्ववाद की दार्शनिक धारा के क्षीण होते जाने के परिणामस्वरूप संस्थागत बदलावों की मजबूत कड़ी नहीं बन पाई। किन्तु, अस्तित्ववाद ने पहचान, वितरण, प्रतिनिधित्व, प्रतिष्ठा एवं न्याय के बीच जिन संबंधों को खोलने की कोशिश की उसके प्रभाव से अनेक विमर्शों का जन्म हुआ। इनमें मार्क्सवादी धारा ने जहाँ यह स्वीकार किया कि न्याय की समस्या के समाधान के लिए विभिन्न सामाजिक एवं सांस्कृतिक संबंधों को बदल देने की जरुरत है वहीं समुदायवादी यह मानते हैं कि न्याय की समस्या विभिन्न सामाजिक एवं सांस्कृतिक पहचान के कारण नहीं होते हैं। बल्कि, न्याय की समस्या का जन्म समुदाय के मूल्यों का समुचित पालन नहीं करने के कारण होता है।[6] समतावादी चिंतन ने मार्क्सवाद की ही तरह विभिन्न पहचानों को और उन पहचानों से जुड़े दावों को न्याय की समस्या का मूल कारण माना है। इसी कारण जॉन रॉल्स विवेकशील वार्ताकारों को जो कि न्याय की समस्या के समाधान के लिए एकत्रित हुए हैं उन्हें सामाजिक–आर्थिक पृष्ठभूमि प्रदान नहीं करते हैं।[7] किन्तु, रॉल्स इस बात के प्रति सचेत हैं कि पहचान से उत्पन्न अकिंचनता और पहचान से उत्पन्न समृद्धि के बीच न्याय ही वह सूत्र है जो सामंजस्य उत्पन्न कर सकता है। इसके लिए वे समृद्धि की पृष्ठभूमि से अर्जित लाभों पर कोई प्रतिबन्ध नहीं लगाते हैं। किन्तु, यह शर्त रखते हैं कि इन लाभों से अकिंचनता की पहचान वाली पृष्ठभूमि में रह रहे लोगों का भी कल्याण होना चाहिए। यही उनके शुद्ध प्रक्रियात्मक न्याय का मूल मंतव्य भी है।[8]

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

नारीवाद के अंतर्गत स्त्रियों के प्रति अन्याय की समस्या को उस पहचान का प्रतिफल माना गया है जो पहचान को पितृसत्तामकता, लिंग भेद एवं पुरुष वर्चस्व के सन्दर्भ में समझती है। प्रारंभ में नारीवाद की विकास यात्रा जिस दिशा में हो रही थी और जिस तरह के सांस्कृतिक बदलावों की यह वाहक बन रही थी उसमें ऐसा प्रतीत हो रहा था कि विचारधारा के बाद जेंडर ही पहचान का सबसे प्रमुख स्तंभ बन जायेगा। किन्तु, नारीवाद भी लिंग भेद से उत्पन्न आधी आबादी की पहचान संकट, प्रतिनिधित्व, प्रतिष्ठा एवं पुनर्वितरण की परिभाषा एवं प्राप्ति के लक्ष्य को लेकर अपने को एकजुट नहीं रख सकी। इसका प्रमाण हमें अश्वेत नारीवाद में देखने को मिलता है जहाँ औपनिवेशिक दासता की भुक्त भोगी महिलाओं ने जेंडर के प्रश्न पर पश्चिम की महिलाओं को अपने साथ खड़ा नहीं पाया बल्कि उन पुरुषों के साथ खड़ा पाया जो लिंगभेदी शोषण के प्रतीक थे।

प्रबोधन काल के शुरुआती दौर में पहचान के प्रश्न को जब सामाजिक संविदावादी विचारकों के द्वारा समझने की कोशिश की गयी तब हॉब्स के चिंतन में यह वैज्ञानिक भौतिकवाद से प्रभावित होकर प्रकट हुई।[9] हॉब्स ने प्राकृतिक अवस्था में सभी मनुष्यों को एक ऐसी पहचान दी जिसमें वे सभी संवेदनाओं के दास थे किन्तु उनमें विवेक भी था। इस अवस्था में पहचान की जो श्रेणी बनती है उस श्रेणी में शक्तिशाली एवं शक्तिहीन, दो ही श्रेणियाँ हैं। पहचान की इन श्रेणियों में सभ्यता या समाज बोध नहीं है किन्तु हानि और लाभ है तथा सुख और दुख का बोध है। वस्तुतः हानि और लाभ तथा सुख और दुख का विचार मात्र व्यक्तिगत संवेदना के विषय नहीं होते हैं बल्कि इनकी अनुभूति समूह अथवा समाज की मान्यताओं पर भी निर्भर करता है। इसी कारण हॉब्स की प्राकृतिक अवस्था में पहचान को समझने के सूत्र आपस में जुड़े हुए नहीं बल्कि उलझे हुए हैं। सामाजिक समझौते के बाद हॉब्स के चिंतन में पहचान की समस्या को जिस तरह से देखा गया है वह शक्ति संबंधों पर आधारित पहचान है जिसमें शक्ति संबंधों की संरचनाओं को निर्मित करने में सबकी भागीदारी है। किन्तु, इस भागीदारी से जब शासक और शासित के सम्बन्ध बन जाते हैं तब शासितों के पास शासन के दबाव से आरोपित पहचान को पलट देने की गुंजाईश कम हो जाती है। जॉन लॉक ने हॉब्स के विपरीत प्रबोधनकाल में सभी लोगों को पहचान के एक ही धरातल पर रखने की कोशिश की। इसके मूल सूत्र को जॉन लॉक ने

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

सभी लोगों के लिए सामान प्राकृतिक स्वतंत्रता एवं प्राकृतिक अधिकार का उपबंध करते हुए किया। किन्तु, लॉक ने यह स्पष्ट कर दिया कि प्राकृतिक स्वतंत्रता एवं प्राकृतिक अधिकार की व्यक्तिगत– स्वार्थयुक्त व्याख्या पहचान के विशिष्ट दावों और संघर्ष को जन्म देती है। इस संघर्ष को समाप्त करने के लिए लॉक ने संवैधानिक तंत्र की बात की। इसका तात्पर्य यह हुआ कि लॉक ने अ–वैयक्तिक रूप से विधि निर्माण करने वाली और उन विधियों को लागू करने वाली व्यवस्था के अंतर्गत पहचान संघर्ष को और पहचान संकट को समाप्त करने का प्रयास किया।

वस्तुतः जॉन लॉक के प्रयासों में हम पश्चिमी उदीयमान पूँजीवाद और संविधानवाद के गठजोड़ ने जिस तरह से पहचान के प्रश्न को लिया उसकी एक झलक पाते हैं। जो कि पश्चिम में और दुनिया के अन्य देशों में पहचान को समझने का और समायोजित करने का एक महत्त्वपूर्ण उपक्रम साबित हुआ। यद्यपि हॉब्स एवं लॉक की दृष्टि में जिसे हम पहचान कहेंगे उसने आगे चलकर समाज में संपत्ति संबंधों के आधार पर विभाजन उत्पन्न किया और इस विभाजन ने जिस नए पहचान को जन्म दिया और फिर उस पर पहचान की एक नयी बहस को मार्क्सवाद ने आगे बढाया। किन्तु, मार्क्स के पहले रूसो ने हॉब्स एवं लॉक के चिंतन से पहचान की जो प्रणाली विकसित हो रही थी उसे खारिज करते हुए यह प्रस्तावित किया किं आधुनिक काल की पहचान वास्तव में मानवीय पहचान है ही नहीं और मनुष्य को वास्तविक पहचान हासिल करने के लिए पुनः प्रकृति की ओर लौटना होगा। जहाँ वह अपने मूल मानव स्वाभाव को फिर से प्राप्त कर सकेगा। रूसो की इस बात की प्रतिध्वनि पहचान के सन्दर्भ में हमें मैकफर्सन के चिंतन में भी देखने को मिलती है। मैकफर्सन ने यह प्रस्तावित किया कि हॉब्स एवं लॉक के चिंतन में जिस स्वत्वमूलक व्यक्तिवाद (पजेसिव इंडिविजुअलिज्म) का विकास हुआ है वह मनुष्य के मानवीय पहचान को पृष्ठभूमि में धकेल दिया है। इस बदलाव के लिए मैकफर्सन यह तर्क देते हैं कि मनुष्य के भीतर दो तरह की क्षमताएं होती हैं। प्रथम सहयोगात्मक क्षमता (एसोसिएशनल कैपेसिटी) एवं द्वितीय, दोहनात्मक क्षमता (एक्सट्रेक्टिव कैपेसिटी)। मैकफर्सन कहते हैं कि पूँजीवादी–बाजारवादी अर्थव्यवस्था में मनुष्य के सहयोगात्मक क्षमता के ऊपर दोहनात्मक क्षमता ने वरीयता स्थापित कर ली है।[10] मैकफर्सन की दृष्टि में यह पहचान संकट का एक ऐसा

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

सन्दर्भ है जिसने मनुष्य को मनुष्यत्व से निष्कासित कर दिया है। इसे ही प्रायः हर्बर्ट मर्क्युज मनुष्य का एक–आयामी बन जाना कहते हैं।[11]

प्रबोधन के एक दूसरे वर्ग के विचारकों में पहचान का विमर्श कुछ अलग तरह से विकसित हुआ है। उदाहरण के लिए (ऑनमैथड : 1637) में डेकार्ट ने प्लेटो के विचारों एवं आगस्टीन के अंतर्ज्ञान के सिद्धांत को मिलते हुए पहचान के प्रश्न को शुद्ध सोच वाले स्व के रूप में व्याख्यायित किया है। उनके अनुसार स्व का सार विचार है जो दुनिया से अलग है और सभी अस्तित्व की आधारशिला है। इसीलिए डेकार्ट इस बात कर जोर देते हैं कि चेतना अपने आप में चेतना के प्रति संदेह की क्षमता से पुष्ट होता है। यहाँ डेकार्ट ने अपनी पहचान पर अथवा अपने होने पर स्वयं ही संदेह करने की बात कही है। इस आधार पर पहचान का जो विमर्श उत्पन्न होता है वह पहचान को विशुद्ध चेतना का विषय बना देता है। जबकि पहचान के दूसरे अनेक विमर्शों में दूसरे की चेतना एवं पहचान से स्व की चेतना एवं पहचान को टकराते हुए देखा जा सकता है। पहचान, चेतना एवं विषय की जिन गुत्थियों को सुलझाने का प्रयास डेकार्ट ने किया है उससे कांट एवं हीगल भी संघर्ष करते हुए दिखाई देते हैं। कांट ने भी माना कि तर्कसंगत विषय का सार 'जानने की हिम्मत' में है परन्तु कांट पहचान, आत्मज्ञान और अधिकार को एक साथ जोड़ते हुए दिखाई पड़ते हैं।[12]

हीगल के लेखन में पहचान मानसिक स्थिति में चेतना के उद्‌भव और चेतना के विस्तार का प्रश्न है। हीगल की दृष्टि में आत्मतत्त्व तक जब ज्ञान नहीं पहुँचता है और वह विभिन्न इच्छाओं में बँधा रहता है तब तक वह अनेक प्रकार के संशय की दुनिया में रहता है। यह पहचान संकट एवं पहचान आधारित संघर्ष की दुनिया है किन्तु जब ज्ञान आत्मतत्त्व तक पहुँच जाता है तब निजता बनाम सामूहिकता से जुड़े हुए पहचान एवं उनके बीच का अंतर्द्वंद समाप्त हो जाता है।[13]

IV

उपर्युक्त परिच्छेदों में प्रबोधनकाल के पहचान विमर्श की जो चर्चा हुई है उसके सन्दर्भ में स्टुअर्ट हॉल कहते हैं कि प्रबोधन युग की पहचान के सन्दर्भ में मनुष्य की समझ आत्मकेन्द्रित एकीकृत व्यक्ति के रूप में है जो कारण, चेतना और कार्यवाही की क्षमता से संपन्न है और जिसके केंद्र में एक आंतरिक सत्व होता है; जिसमें अहंकार का विचार मूल केन्द्रीय मानव

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

पहचान है।[14] किन्तु, अठारहवीं शताब्दी से आगे चलने पर पहचान के विमर्श को एक नया तर्क मिला जिसमें स्व एवं समाज दो ध्रुवों में विभाजित रहे हैं। जिनमें कुछ विमर्श पहचान के सन्दर्भ में स्व के पक्ष में खड़े होते हैं और कुछ विमर्श समाज के पक्ष में खड़े होते हैं। इस परिवर्तन के मूल में हीगल और मार्क्स का टकराव है। हीगल ने जिसे पहचान के सन्दर्भ में चेतना के विकास की प्रक्रिया कहा था, मार्क्स ने उसे उत्पादन एवं वर्ग संबंधों का प्रतिमान साबित कर दिया। गंभीरतापूर्वक विचार करें तो हीगल के चिंतन में पहचान को निर्धारित करने वाले सामाजिक–आर्थिक परिस्थितियों का सन्दर्भ संभवतः ओझल था और इसी तरह पहचान को निर्धारित करने वाले मार्क्सवादी व्याख्या में मनुष्य इतिहास की गति में लगा हुआ किसी पुर्जे के समान था। वास्तविकता यह है कि हीगल एवं मार्क्स दोनों ने ही पहचान को एक लोहे का पिंजरा बना दिया था। शुरुआती दौर में फ्राइड एवं वेबर ने मार्क्स एवं हीगल के द्वारा बनाये गये पहचान के लोहे के पिंजरे से मनुष्य को बाहर निकालने की कोशिश की। वेबर ने इसके लिए अत्यंत सरलीकृत एवं व्यावहारिक प्रस्ताव रखा। वेबर का मानना है कि सामान जीवन शैली और मूल्यों वाले लोग एक स्थिति समूह बनाते हैं जिसमें सामाजिक स्थिति का सम्मान निर्णायक भूमिका निभाता है। किन्तु, आगे चलकर जब स्थिति समूहों की पहचान को नौकरशाही के जरिये बनाये रखने की कोशिश वेबर में दिखती है तब वे भी पहचान के विमर्श को प्रायः एक अलग तरह के लोहे के पिंजरे में कैद करने का प्रयास कर रहे होते हैं। फ्राइड ने पहचान के विमर्श को अधिक उलझा दिया। उन्होंने इड, ईगो एवं सुपर ईगो की बात करते हुए प्रत्येक व्यक्ति में पहचान के विभिन्न स्तर बना दिए। कहने के लिए तब के समय में और आज भी मनोविज्ञान के क्षेत्र में फ्राइड का यह अभूतपूर्व योगदान था। किन्तु, फ्राइड के सिद्धांतों को मिलने वाली वैधता ने मार्क्स की आंधी को कम करने का ही प्रयास अधिक किया। क्योंकि फ्राइड ने अब चिंतन का एक ऐसा खाका दे दिया था जिसमें मजदूरों की अवस्था पर रहने वाला ईगो उस सुपर ईगो को वैध मान सकता था जहाँ वह भविष्य में पूँजीपति बनने का ख्वाब देखता हो।

वेबर एवं फ्राइड के सम्मिलित प्रभाव से पहचान का जो विमर्श उत्पन्न हो रहा था वह एक ओर दुनिया को सर्वहारा एवं पूँजीपति के संघर्ष में उलझने से रोक रहा था। वहीं दूसरी ओर यह व्यक्ति के अलग अलग

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

पहचान के ऐसे दावे को प्रस्तावित कर रहा था जो 'स्व' के किसी सुसंगत एवं एकीकृत विचार को बढ़ने से रोक भी रही थी। इस सन्दर्भ को रेखांकित करते हुए स्टुअर्ट हॉल लिखते हैं कि हमारे भीतर परस्पर विरोधी पहचानें हैं, जो अलग–अलग दिशाओं में खींच रही हैं, जिससे हमारी पहचान लगातार इधर–उधर हो रही है। अगर हमें लगता है कि जन्म से मृत्यु तक हमारी एक एकीकृत पहचान है, तो यह केवल इसलिए है क्योंकि हम अपने बारे में एक सुकून देने वाली कहानी या 'स्व के अफसाने' का निर्माण कर रहे होते हैं।[15] वस्तुतः यहीं से उन एकाधिक पहचानों की बात शुरू हो जाती है जिस पर आगे चलकर उत्तर–आधुनिकतावाद ने विशेष ध्यान आकृष्ट किया है। वस्तुतः उत्तर–आधुनिकतावाद जिन एकाधिक पहचानों की बात करता है वे परस्पर विरोधी हैं। जब व्यक्ति की पहचान विभिन्न ध्रुवों की ओर जाने वाले होते हैं तब भले ही अलग–अलग तरह की पहचानों में निहित व्यक्ति की इच्छा का प्रतिनिधित्व करते हों। किन्तु, इससे एक विघटित व्यक्तित्व किसी एक शक्ति लिप्सा और उससे जुडी शक्ति संरचना के प्रतिरोध में अपने को खड़ा नहीं कर पाता है। फलतः प्राधिकारवादी संस्थाएँ उससे अधिक ताकतवर हो जाती हैं जितनी कि यह व्यक्ति के द्वारा सुनिश्चित पहचान के दावे के आधार पर हो सकती थी। उत्तर–आधुनिक पहचान को प्रभावित करने वाले तीन मुख्य करक हैं – सापेक्षवाद, भाषा और पहचान की राजनीति।

नीत्शे को एक महत्त्वपूर्ण पड़ाव के रूप में स्वीकार करते हुए, पश्चिमी विचार तत्त्ववाद से सापेक्षवाद में बदलते हुए समीकरणों के बीच पहचान को समझने का प्रयास करते रहे हैं। आज, सापेक्षवाद एक दुरूह विचार बन गया है, जो संपूर्ण उत्तर–आधुनिक, उत्तर–संरचनात्मक विमर्श प्रणाली में व्याप्त है। सापेक्षतावाद की ताकतों की मदद से, उत्तर–आधुनिक पहचान टूटने की कगार पर है, जो उत्तर आधुनिक व्यक्तिपरकता के संकट को उजागर करती है, इस सन्दर्भ को लैरेन सारांशित करते हैं। अल्थुसर का मानना है कि विषय का उद्भव और अस्तित्व विचारधारा पर निर्भर करता है। फूको का मानना है कि विषय शक्ति संबंधों का उत्पाद है और ल्योतार का मानना है कि विषय संचार प्रणाली की गुत्थी है। यह विचार या तो एक संभावित एकता के अस्तित्व पर संदेह करते हैं, या किसी प्रकार के पदार्थ के अस्तित्व पर संदेह करते हैं जो ज्ञान और अभ्यास का उत्पादन करता है।[16]

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

संक्षेप में, उत्तर–आधुनिक चिंतन विषय में अब पहचान की निरंतरता की भावना नहीं है, इसे खंडित विचारों के ढेर में तोड़ दिया गया है।

दरिदा ने विघटन की प्रक्रिया में उत्कृष्ट योगदान दिया। स्थगन (डेफरेंस) और अंतः – पाठ्यता (इंटरटेक्सचुअलिटी) जैसी क्रांतिकारी अवधारणाओं पर भरोसा करते हुए, उन्होंने संरचनात्मक भाषा विज्ञान में वाचक (सिग्नीफायर) और अभिव्यंजना (सिग्नीफायड), भाषा और दुनिया के संबंधित समग्र दृष्टिकोण को पूरी तरह से तोड़ दिया। दरिदा की कलम की दिशा में, पश्चिमी लोगो का केंद्र खंडित हो गया है और भाषा संकेतकों का एक मूल्यहीन खेल बन कर रह गई है। साथ ही दुनिया एक शाब्दिक दुनिया बन गई है। जहाँ दरिदा की लेखनी निर्देशित करती है, पश्चिमी लोगों का केंद्र खंडित होता है। भाषा वाचक (सिग्नीफायर) के प्रचंड खेल में सिमट जाती है, और दुनिया एक पाठ्य दुनिया बन कर रह जाती है। हम जानते हैं कि इच्छा को हमेशा जरूरतों और चाहतों के बीच एक अधूरी रिक्ति (कमी) के रूप में माना जाता है, जबकि डेल्यूज और अन्य का दावा है कि इच्छा उत्पादन है, और मनुष्य स्वाभाविक रूप से एक इच्छा यंत्र है। इसलिए, फॉस्टियन इच्छा मानव स्वभाव पर हावी है, और तर्कसंगत विषय भी "खानाबदोश" विषय में बदल जाता है।

1960 के दशक से नारीवाद, उत्तर–औपनिवेशिकतावाद और अल्पसंख्यक विमर्शों के उतार–चढ़ाव के साथ पहचान की राजनीति एक वैश्विक परिदृश्य बन गई। तीसरी दुनिया का राष्ट्रवाद पहले विश्व के अल्पसंख्यकों की सांस्कृतिक राजनीति को उत्साहपूर्वक प्रतिध्वनित करता है, जबकि नस्ल, जातीयता, लिंग, वर्ग आदि की अवधारणाएँ हाशिये पर पड़े हुए विभिन्न अस्तित्वों के साथ एक दूसरे के पूरक हैं। सबसे चौंकाने वाली बात यह है कि बड़ी संख्या में विद्वानों ने अध्ययन से बाहर कदम रखा और सैद्धांतिक आलोचना को सांस्कृतिक अनुसंधान के साथ मिला दिया।

समकालीन पश्चिमी सांस्कृतिक अध्ययन विदेशी फूलों और फलों से भरे एक बड़े पेड़ की तरह हैं। विलियम्स, ग्राम्शी, फूको और अल्थुसर एक बड़े पेड़ की शाखाओं की तरह हैं, और सांस्कृतिक अध्ययन के विभिन्न स्कूलों से पता चलता है कि इन पेड़ों पर अलग–अलग रंग और अलग–अलग स्वाद के फल होते हैं। यह कहा जाना चाहिए कि वे नई वामपंथी विचारधारा से बपतिस्मा लेते हैं, और उनकी जड़ें लगभग एक ही हैं।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

हालांकि, इन सिद्धांत के विभिन्न स्कूलों के आंतरिक विकास को अभी भी और विश्लेषण की आवश्यकता है।

वृहद् दृष्टिकोण से देखने का प्रयास किया जाये तो उत्तर–औपनिवेशिक लेखन अपने आप में पहचान की एक अनूठी प्रथा है। "रिवर्स राइटिंग ऑफ एम्पायर्सः द थ्योरी एंड प्रैक्टिस ऑफ पोस्टकोलोनियल लिटरेचर" में अमेरिकी विद्वान एशक्रॉफ्ट ने इसे चार प्रकारों में विभाजित किया हैः

1. जातीय या क्षेत्रीय मॉडल, जो जातीय या क्षेत्रीय सांस्कृतिक विशेषताओं पर जोर देता है;
2. नृजातीय मॉडल, जो नस्ल पर आधारित है, साहित्य में नस्लीय उत्पत्ति जैसी सामान्य विशेषताओं पर प्रकाश डालता है, जैसे कि अफ्रीकी–अमेरिकी लेखकों में डु बोइस और टोनी मॉरिसन अफ्रीकी नस्ल के प्रवासीयों का प्रतिनिधित्व करते हैं;
3. एक तुलनात्मक मॉडल, जो विभिन्न उत्तर–औपनिवेशिक साहित्य की भाषाई, ऐतिहासिक और सांस्कृतिक विशेषताओं की व्याख्या करता है;
4. जटिल तुलनात्मक मॉडल, जो उत्तर–औपनिवेशिक साहित्य के संरचनागत कारकों का विश्लेषण करता है जैसे मिश्रण या समरूपता, उदाहरण के लिए, नायपॉल का अद्वितीय उत्तर–औपनिवेशिक लेखन।

एक अन्य अमेरिकी विद्वान, सजर, उत्तर–औपनिवेशिक पहचान की राजनीति को तीन रूपों में विभाजित करते हैंः

1. पैन–राष्ट्रवाद, जैसे सेनेगल के सेनघोर और मार्टीनिक के सेजर द्वारा समर्थित अफ्रीकी नस्लीय पहचान काला, चरित्र और स्वभाव है;
2. राष्ट्रवाद, जैसे राष्ट्र–राज्य की अवधारणा पर फैनन ने जोर दिया;
3. जातीय प्रवासी और निम्नवर्ग (उपाश्रयी), जैसे भारतीय विद्वान् स्पिवक द्वारा जातीय डायस्पोरा और उपवर्गों (उपाश्रयी इतिहास लेखन) का विश्लेषण। इस सैद्धांतिक भेद के अनुसार, औपनिवेशिक पहचान के बाद की राजनीति आम तौर पर पहचान के तीन चरणों से गुजरती है– नस्लीय, जातीय और जातीय प्रवासी।

सामाजिक विकास का सिद्धांत नस्ल की जैविक विशेषताओं पर जोर देता है। यह सिद्धांत उत्तर मध्य युग की तरफ वापस चला जाता है। उस समय दुनिया को महान अस्तित्व की एक श्रृंखला के रूप में माना जाता

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

था जो पदानुक्रमित थी और जहाँ एक ध्रुव सभ्य था जबकि दूसरा ध्रुव बर्बर था। 18वीं शताब्दी के ज्ञानोदय के दृष्टिकोण का मानना था कि सभ्यता का इतिहास बर्बरता से लेकर तर्कसंगतता तक मनुष्य का इतिहास है। गोरे लोग अन्य जातियों से श्रेष्ठ हैं और यूरोपीय सभ्यता सभ्यता का शिखर है। कांट ने ''फिजिकल जियोग्राफी'' (1802) में नस्ल पर भौगोलिक वातावरण के प्रभाव पर जोर दिया और उन्होंने कहा, मनुष्य का सबसे आदर्श उदाहरण श्वेत व्यक्ति है। श्वेत जाति में मानवता की सर्वोच्च पूर्णता है। पीले भारतीयों में कुछ कम प्रतिभा होती है। नीग्रो लोगों में उससे भी कम प्रतिभा होती है जबकि कुछ अमेरिकी जनजातियाँ सबसे नीचे हैं।[17] हीगल का दावा है कि पृथ्वी का यह विभाजन और पुरानी दुनिया का उपखंड 'आकस्मिक नहीं बल्कि आवश्यक' है। हीगल के अनुसार, पुरानी दुनिया के उस उपखंड के लिए मानव जाति के तीन प्रमुख जातियों में विभाजन से मेल खाती है : कोकेशियान, इथियोपियाई और मंगोलियाई। इन तीन जातियों के मुख्य विशिष्ट चिह्न 'खोपड़ी और चेहरे के गठन' से प्राप्त होते हैं। मंगोलियाई और कोकेशियान की तुलना में नीग्रो की खोपड़ी अधिक संकीर्ण होती है, उनकी भौहें धनुषाकार होती हैं, फिर भी कूबड़ वाली होती हैं। उनके जबड़े झुके हुए होते हैं, उनके दांत टेढ़े होते हैं, निचले जबड़े की हड्डी काफी दूर तक फैली होती है, उनकी त्वचा का रंग कमोबेश काला होता है, उनके बाल घुंघराले और काले होते हैं।''[18] एतद्वविषयक यूरोपीय संस्कृतिवाद सांस्कृतिक मानकों, मूल्यों, विश्वासों और सामाजिक प्रथाओं जैसे जातीय सांस्कृतिक अर्थों पर जोर देता है। यह अवधारणा मानती है कि जातीय समूहों का गठन सामान्य सांस्कृतिक प्रतीकों पर निर्भर करता है और इतिहास, भाषा और संस्कृति त्रिकोणीय समर्थन हैं जो राष्ट्रीय विशेषताओं का निर्माण करते हैं। प्रोफेसर हॉल कहते हैं कि नस्ल शब्द स्वीकार करता है कि सभी विमर्श अपने स्थान, अवस्थिति और संदर्भ से सशर्त बंधे होते हैं और सभी ज्ञान का अपना विशिष्ट संदर्भ होता है। साथ ही, यह भी मानते हैं कि इतिहास, भाषा और संस्कृति विषय निर्माण और पहचान में एक भूमिका निभाते हैं।[19]

उपर्युक्त सामाजिक विकासवाद और संस्कृतिवाद नस्लवाद में एक शक्ति विमर्श का भी सन्दर्भ है, यह स्पष्ट प्रतीत होता है। उपनिवेशवादियों ने मनुष्य की जैविक और भौतिक विशेषताओं को शाश्वत नस्लीय ''टैटू'' के

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

रूप में ग्रहण किया, जो अन्य जातियों के इतिहास और संस्कृति को अनिवार्य रूप से विकृत कर देता है या मिटा देता है। वे सभ्यता और प्रगति के प्रतिनिधि होने का दावा करते हैं, और स्वयं को पिछड़े राष्ट्रों के "उचित और कानूनी" संरक्षक समझते हैं। इस तर्क के अनुसार, उनके पास बुराई को वश में करने और पतितों को बचाने का ऐतिहासिक मिशन है।

उत्तर-औपनिवेशिक पहचान की चर्चा में राष्ट्र-राज्य की अवधारणा भी शामिल है, क्योंकि राष्ट्रीय पहचान मुख्य रूप से सांस्कृतिक मनोवैज्ञानिक पहचान से आती है। एक राजनीतिक समुदाय के रूप में, एक ओर राष्ट्र-राज्य अपनी राजनीतिक एकता बनाए रखने के लिए राज्य तंत्र पर निर्भर रहता है और दूसरी ओर, एक काल्पनिक समुदाय के रूप में इसे अपनी सांस्कृतिक एकता सुनिश्चित करने के लिए अपने ही राष्ट्र की सांस्कृतिक विरासत पर निर्भर रहना पड़ता है। इसमें लोक कथाएँ, मिथक और किंवदंतियाँ, साहित्यिक कथाएँ, सांस्कृतिक प्रतीक, धार्मिक समारोह आदि शामिल हैं, जो प्रत्येक राष्ट्र के लिए अद्वितीय महत्त्व की भी है और एक दूसरे से भिन्न भी है।

'इमेजिन्ड कम्युनिटी' नामक पुस्तक में बेनेडिक्ट एंडरसन तुलनात्मक इतिहास, ऐतिहासिक समाजशास्त्र और नृविज्ञान के प्रतिच्छेदन पर आधारित राष्ट्रीय काल्पनिक समुदाय को पहली बार आधुनिकता के ऐतिहासिक ढाँचे में रखते हैं। उन्होंने बताया कि 18वीं शताब्दी के अंत से, पूँजीवाद, मुद्रण प्रौद्योगिकी और मानव भाषा में परिवर्तन ने संयुक्त रूप से राष्ट्रवादी आंदोलनों की चार लहरों को बढ़ावा दिया है : अमेरिकी औपनिवेशिक स्वतंत्रता आंदोलन, यूरोपीय भाषाई राष्ट्रवाद, यूरोपीय आधिकारिक राष्ट्रवाद, और एशियाई और अफ्रीकी औपनिवेशिक राष्ट्रवाद। एंडरसन के विचार में, अमेरिकी और यूरोपीय आप्रवासियों में राष्ट्रवाद के उदय के अपने जटिल कारण हैं। भटकते अप्रवासी विशिष्ट औपनिवेशिक स्थानों में रहते हैं और अपने देश में अपने यात्रा साथियों के साथ भेदभाव का अनुभव करते हैं। इस प्रकार एक सामान्य जीवन अनुभव और सांस्कृतिक मनोविज्ञान का निर्माण करते हैं। दूसरी ओर, एशियाई-अफ्रीकी औपनिवेशिक राष्ट्रवाद, राष्ट्रवाद की पिछली तीन लहरों की नकल हैं और इसकी मूल ताकत स्वदेशी बुद्धिजीवी हैं। जिन्हें औपनिवेशिक शक्ति द्वारा शिक्षित किया गया था। आधिपत्य वाले देश में उसी भाषा की शिक्षा, और

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

समान वैचारिक ज्ञान की कठिनाइयों ने उन्हें राष्ट्रवाद के एक नए दौर का यात्री बना दिया।

ब्रिटिश समाजशास्त्री गिडेंस ने "द नेशन–स्टेट एंड वायलेंस" में कहा है कि राष्ट्रवाद अनिवार्य रूप से एक ऐसी घटना है जो 18 वीं शताब्दी के अंत और उसके बाद उभरी है।[20] औपनिवेशिक अभिजात्य वर्ग उत्तर–औपनिवेशिक राष्ट्रीय पहचान में प्रमुख शक्ति है, और यह "राजनीतिक" है। यह जो राजनीतिक है, वह समुदाय की एकता के लिए एक मनोवैज्ञानिक दृष्टि प्रदान करता है।[21] हालाँकि, राष्ट्र–राज्य एक एकल कल्पित समुदाय नहीं है, यह एक राजनीतिक समुदाय भी है। इसके अलावा, राष्ट्र–राज्य का उत्कृष्ट रूप अमेरिकी औपनिवेशिक राष्ट्र–राज्य नहीं है, बल्कि यूरोपीय राष्ट्र–राज्य है। यूरोपीय राष्ट्र–राज्य ने न केवल बाद के राष्ट्र–राज्यों को अनुकरण करने के लिए एक मॉडल प्रदान किया, बल्कि उपनिवेशित राष्ट्र को यूरोपीय वर्चस्व का विरोध करके एक राष्ट्र–राज्य बनने के लिए प्रेरित भी किया।[22]

फ्रांसीसी विद्वान फैनन ने अपनी पुस्तक 'द रेचेड ऑफ द अर्थ' में उत्तर–औपनिवेशिक हिंसा को पहचान के सन्दर्भ में दार्शनिक स्तर तक ऊपर उठाया। उन्होंने कहा कि उपनिवेशवाद का सार हिंसा है, और केवल उत्तर–औपनिवेशिक हिंसा ही औपनिवेशिक शासन को नष्ट कर सकती है। उनके विचार में, शहर के सभी वर्गों के अश्वेत लोगों को कुछ हद तक पूँजीवादी व्यवस्था पर निर्भर रहना पड़ता है, इसलिए उनमें पूरी तरह से क्रांतिकारी भावना का अभाव है। राष्ट्रीय पूँजीपति वर्ग की आत्मा सुस्त है, और राष्ट्रवादी पार्टी जनता से अलग हो गई है। इसलिए, काले अफ्रीका की स्वतंत्रता प्राप्त करने के लिए हमें किसान वर्ग पर भरोसा करना चाहिए।[23] यहाँ, फैनन का वर्ग विश्लेषण लगभग माओत्से तुंग के समान हो जाता है।

उत्तर–औपनिवेशिक राज्य में जातीय प्रवासी विशेष रूप से नस्ल से जुड़े अल्पसंख्यक समूहों को संदर्भित करता है, जैसे कि संयुक्त राज्य में अश्वेत समूह। इस संबंध में, डु बोइस ने "द सोल ऑफ द नीग्रो" में दोहरी चेतना की अवधारणा को सामने रखा। उनका मानना था कि अश्वेत अमेरिकियों को अश्वेतों और अमेरिकियों के बीच पहचान के संघर्ष का सामना करना पड़ा। एक अमेरिकी पहचान के काले आंतरिकीकरण से उत्पन्न होने वाली विशेष कठिनाइयों को व्यक्त करने के लिए शुरू में दोहरी

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

चेतना का उपयोग किया गया था : "एक व्यक्ति कभी भी दोहरापन महसूस करता है, – एक अमेरिकी, एक नीग्रोय दो आत्माएँ, दो विचार, दो अनसुलझे प्रयास; एक काले शरीर में दो युद्धरत आदर्श, जिनकी दृढ़ शक्ति ही इसे छिन्न–भिन्न होने से बचाती है।"[24] ब्लैक अटलांटिक : मॉडर्निटी एंड डुअल कॉन्शियसनेस (1997) में गिलरॉय एक सार्वभौमिक अश्वेत पहचान के अस्तित्व से इनकार करते हैं। उन्होंने प्रस्तावित किया कि प्रत्येक अश्वेत जातीय प्रवासी और अन्य प्रवासी समूहों के बीच समानता और अंतर का सावधानीपूर्वक विश्लेषण करना आवश्यक है, ताकि अश्वेत पहचान द्वारा निहित कई इतिहासों की खोज की जा सके। एक अन्य पत्र में उन्होंने बताया कि प्रवासी पहचान एक संकर पहचान है। इसकी आवश्यक विशेषता एक प्रकार का विदेशी संश्लेषण, मिश्रण और लंबे समय तक अशुद्ध सांस्कृतिक रूपों का क्रमिक गठन है।[25] उन्होंने पाया कि जातीय प्रवासी की पहचान की समस्या का मुख्य कारण आधुनिकता है। आधुनिकीकरण और वैश्वीकरण पारंपरिक संस्कृति और आधुनिक संस्कृति को जीवन और मृत्यु के लिए लड़ाते हैं और यूरोपीय संस्कृति और औपनिवेशिक देशी संस्कृति एक संकीर्ण तरीके से मिलती है। वे विभिन्न ऐतिहासिक परिस्थितियों में एक विषम संबंध बनाते हैं और विभिन्न मौजूदा राजनीतिक, आर्थिक और तकनीकी मुद्दों में उलझे हुए हैं, जो एक गड़बड़ी पैदा कर रहे हैं।

वैश्वीकरण की प्रक्रिया में जातीय प्रवासियों के कारण मिश्रित पहचान की समस्या को प्रदर्शित करने के लिए फ्राइडमैन ने अपनी कृति 'कल्चरल आइडेंटिटी एंड ग्लोबल प्रोसेस' में विशेष रूप से जापान में होक्काइडो के ऐनू और संयुक्त राज्य अमेरिका के हवाईयन को उदाहरण के रूप में लिया। उन्होंने पाया कि अधिकांश ऐनू लोगों ने अपनी राष्ट्रीय पहचान को खारिज कर दिया और जापानी संस्कृति में एकीकृत करने की कोशिश की। लेकिन, उन्हें अभी भी जापानी राष्ट्र से बाहर रखा गया था। 1970 के दशक में, उन्होंने अपनी जातीय संस्कृति को उजागर करने के लिए पर्यटन संस्कृति का उपयोग करके अपनी पहचान का पुनर्निर्माण करना शुरू किया, जैसे कि खाद्य, उत्सव आयोजित करना, सार्वजनिक समारोह करना और पारंपरिक ग्राम समुदायों को पुनः स्थापित करना। संयुक्त राज्य अमेरिका के पश्चिमी तट पर हवाईयन की एक अलग कहानी है। 1892 में द्वीप राजशाही को उलट दिया गया था, और तब से

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

हवाईवासियों की पहचान चीनी, फिलिपिनो और श्वेत सांस्कृतिक तत्त्वों में प्रवेश कर गई है। 1970 के दशक में उन्होंने उत्तर आधुनिक पर्यटन उपभोग संस्कृति का विरोध करना शुरू कर दिया। अनुकरण संस्कृति के शिकार होने से बचने के लिए वे वर्तमान में एक गहरे पहचान संकट में हैं।

समकालीन पश्चिमी साहित्यिक आलोचना सांस्कृतिक और संस्थागत आलोचना पर जोर देती है। साथ ही त्वरित पहचान भी नारीवाद, उत्तर–औपनिवेशिकवाद और अन्य आलोचनात्मक विचार संप्रदायों की मुख्य सामग्री बन गई है। यह सब साहित्यिक क्लासिक्स को फिर से पढ़ने तथा औपनिवेशिक आधिपत्य और पुरुष–केंद्रित संस्कृति के गहन विश्लेषण की वकालत करते हैं। साथ ही पहचान के विभिन्न नए मानकों को फिर से स्थापित करने के लिए औपनिवेशिक संघर्षों और लिंग–भेद जनित संघर्ष की कहानियों में दोनों पक्षों के इतिहास को फिर से लिखते हैं। इस क्षेत्र में, अनेक विशिष्ट विशेषताओं के साथ कई समालोचनात्मक उपन्यास देखे जा सकते हैं। उदाहरण के लिए, केट मिलेट की 1970 में प्रकाशित 'सेक्सुअल पॉलिटिक्स' इतिहास, राजनीति, मनोविज्ञान और साहित्य के दृष्टिकोण से यूरोपीय और अमेरिकी साहित्य में निहित यौन राजनीति की व्यापक रूप से व्याख्या करती है। इस पुस्तक के महत्त्वपूर्ण मामलों में लॉरेंस, मिलर, मेलर, जीन जेनेट आदि जैसे प्रसिद्ध लेखक शामिल हैं। एडवर्ड सईद की कृति 'कल्चर एंड इम्पीरियलिज्म' (1993) आधुनिक ब्रिटिश फिक्शन को एक नए परिप्रेक्ष्य के साथ फिर से व्याख्या है। उनकी आलोचना का मुख्य उद्देश्य न केवल डिकेंस और किपलिंग से लेकर कॉनराड और फोस्टर तक के औपनिवेशिक साहित्य के इतिहास को सुलझाना है, बल्कि साम्राज्यवादी राजनीति और संस्कृति के बीच संभावित जटिलता को भी प्रकट करना है और इस जटिलता के बीच उभर रहे पहचान समीकरणों की परतों को खोलना भी है।

यह देखना अब मुश्किल नहीं है कि साहित्य ने यहाँ तक आते–आते अपनी दृष्टि को व्यापक और उन्मुक्त करते हुए आलोचनात्मक क्षेत्र में कदम रखा है, और अब यह एक बंद क्षेत्र नहीं है। शास्त्रीय लेखकों के कार्यों को लगातार फिर से पढ़ा और फिर से लिखा जा रहा है, और साहित्यिक आलोचना अब लेखकों के कार्यों तक ही सीमित नहीं है। इसमें साहित्य और संस्कृति, साहित्यिक पाठ और पुनरुत्पादन का वैचारिक तंत्र, एक विशिष्ट

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

अवधि तंत्र में साहित्यिक उत्पादन और शक्ति, लेखकों, प्रकाशकों और पाठकों के बीच संबंध, आलोचना और प्रगति के संस्थानीकरण के बीच तनाव, ज्ञान, मुक्ति और अन्य मानवतावादी आदर्श, वर्ग, लिंग, नस्लीय पहचान की राजनीति जो साहित्य और साहित्यिक आलोचना में प्रवेश करती है, आदि जैसे सीमाओं से परे कई मुद्दों को शामिल किया गया है।

हालांकि, समकालीन साहित्यिक आलोचना में पहचान अनुसंधान, साहित्यिक आलोचना से अलग नहीं है। इसके विपरीत, यह साहित्य और विभिन्न संबंधित मुद्दों को संस्कृति, विचारधारा और शक्ति जैसे बाहरी दृष्टिकोणों से फिर से व्याख्या करने का प्रयास करती है। नई आलोचनात्मक दृष्टि में कई विचार परस्पर सह–अस्तित्व में हैं और विभिन्न ग्रंथों को अंतर–पाठ्यचरित (इंटरटेक्स्चुअलाइज्ड) किया गया है। एडवर्ड सईद ने इस घटना को अतिव्यापी क्षेत्र, पेचीदा इतिहास (ओवरलैपिंगटेरिटरीज, इंटरट्वाइंड हिस्ट्रीज) कहा है। सवाल यह है कि हम साहित्यिक ग्रंथों की पहचान और पुनर्व्याख्या के साथ उचित रूप से कैसे शुरुआत कर सकते हैं, ताकि लंबे समय से दबे हुए इतिहास, मूक अल्पसंख्यक आवाज, विकृत जातीय अनुभव और विभिन्न सीमांत पहचान के मुद्दों को पाठ में एक–एक करके उजागर किया जा सके। इस मुद्दे पर सईद के विरोधाभासी पठन (कॉण्ट्रापन्टलरीडिंग) और अल्थुसर के रोगसूचक पठन (सिम्पटोमेटिकरीडिंग) ने हमें दो पहलुओं से दुर्लभ ज्ञान दिया है।

एडवर्ड सईद की काउंटरपॉइंट रीडिंग विधि पहले उनके महत्त्वपूर्ण संकलन "द वर्ल्ड, द टेक्स्ट्स एंड द क्रिटिक्स" (1983) में दिखाई दी, और फिर उनके "कल्चर एंड इम्पीरियलिज्म" (1993) के माध्यम से दिखाई पड़ती है। इस पर उनका स्वयं एक बयान है कि काउंटरपॉइंट रीडिंग को दो प्रक्रियाओं अर्थात् साम्राज्यवाद और साम्राज्यवाद के प्रतिरोध को ध्यान में रखना चाहिए।[26] इसके अलावा, उन्होंने यह प्रस्ताव भी किया कि पाठ की सामग्री को लेखक द्वारा बहिष्कृत सामग्री के साथ एकीकृत किया जाना चाहिए।[27] एशक्रॉफ्ट ने समझाया है कि सईद का काउंटरपॉइंट रीडिंग वास्तव में उपनिवेश के दृष्टिकोण से एक प्रकार का "एंटी–रीडिंग" है, और वह एक ही समय में अधिराज और उपनिवेश के दोहरे इतिहास से अवगत है। इस एंटी–रीडिंग का उद्देश्य वैश्विक साम्राज्यवाद के युग में सांस्कृतिक अभ्यास और राजनीतिक अभ्यास के बीच आंतरिक संबंधों का पता लगाना

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

है। साथ ही यह साम्राज्यवादी राजनीति के साहित्यिक पाठ्यचर्या को प्रकट करना है और साहित्य कैसे साम्राज्यवादी विचारधारा के लेखकों और पाठकों की सामूहिक चेतना को प्रभावित करता है इसको भी उद्घाटित करता है।[28] इस उल्टे काउंटरपॉइंट रीडिंग ने आलोचकों को आलोचनात्मक रवैये के साथ साम्राज्यवादी सत्ता के बहिष्कार में हस्तक्षेप करने और सार्वजनिक बुद्धिजीवियों की आलोचनात्मक भावना को व्यापक रूप से बढ़ावा देने के लिए प्रेरित किया।

सईद के काउंटरपॉइंट रीडिंग से पाठकों को यह पता लगाने में मदद मिलती है कि अठारहवीं शताब्दी के अंग्रेजी उपन्यास, कमोबेश, प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से, जानबूझकर या नहीं, उपनिवेशवादी विस्तार की भावना और एक–एक करके जीतने की इच्छा को पुनः प्रस्तुत करते हैं। यहाँ तक कि उन शुरुआती यात्रा नोट्स, किंवदंतियों, पत्रिकाओं और गंभीर साहित्यिक कार्यों के साथ विदेशी रीति–रिवाजों का वर्णन है, जो उपनिवेशवादियों की सांस्कृतिक श्रेष्ठता और यूरोपीय–केंद्रित चेतना की भावना को उजागर करते हैं। उदाहरण के लिए, शेक्सपीयर की कॉमेडी "द मर्चेंट ऑफ वेनिस" में यहूदी व्यवसायी शर्लक और त्रासदी "ओथेलो" में काले नायक ओथेलो को जातीय प्रवासी राज्य में मिश्रित पहचान के साहित्यिक प्रोटोटाइप के रूप में माना जा सकता है। हम 'द मर्चेंट ऑफ वेनिस' में भी पाते हैं कि शेक्सपीयर के समय से ही यहूदी–विरोधी एक प्रसिद्ध विषय था। प्रसिद्ध नाटक "द टेम्पेस्ट" में, प्रोस्पेरो, जिसे एक रेगिस्तानी द्वीप में निर्वासित किया गया था, निस्संदेह एक ब्रिटिश उपनिवेशवादी रॉबिन्सन का प्रोटोटाइप है। यह साहित्यिक आख्यान औपनिवेशिक मुठभेड़ों, सांस्कृतिक संघर्षों और पहचान की परिणामी समस्याओं का स्पष्ट रूप से वर्णन करते हैं।

एक अन्य दृष्टिकोण से, 18वीं सदी के ब्रिटिश उपन्यासकार डेफो के "रॉबिन्सन क्रूसो" से लेकर 20वीं सदी के फोस्टर की "ए ट्रिप टू इंडिया" और समकालीन भारतीय लेखक रुश्दी की "द चाइल्ड बॉर्न एट मिडनाइट" तक, अंग्रेजी साहित्यिक क्लासिक्स की इस श्रृंखला ने संयुक्त रूप से 300 से अधिक वर्षों के उपनिवेशवाद के कारण मास्टर–दास पहचान के इतिहास का निर्माण किया है। उनमें से, फोस्टर का "हावर्ड्स बर्थ" इंग्लैंड में एडवर्डियन युग की व्यापक सामाजिक तस्वीर को केंद्रित करता है। रिवर्स

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

रीडिंग मेथड की मदद से हमने एक बहु–स्वरीय समवेत गान को सेक्स, जेंडर, क्लास और औपनिवेशिक विजय के साथ गुंथे हुए सुना। उपन्यास में विलकॉक्स, श्लेगल और बस्टर के तीन परिवार विभिन्न ब्रिटिश वर्गों का प्रतिनिधित्व करते हैं। इसके पीछे पारंपरिक ग्रामीण इंग्लैंड आधुनिक शहरी साम्राज्य का सामना करता है। विदेशी व्यापार और औपनिवेशिक सैन्य विजय पर ध्यान केंद्रित करने के कारण विलकॉक्स परिवार साम्राज्य का मुख्य आधार बन गया। अपने वर्चस्व के तहत, हावर्ड बेयर एक विशुद्ध रूप से ब्रिटिश रूपक नहीं रह गया, यह विधर्म का एक स्थल बन गया और शाही वास्तविकता का एक जटिल रूपक बन गया। कहानी के अंत तक, श्री विलकॉक्स, श्लेगल बहनें और बस्टर का बेटा एक साथ बड़े और आरामदायक फार्महाउस में रहते थे। यह मत भूलो कि यह विदेशी औपनिवेशिक निवेश और पश्चिम अफ्रीका में रबर के व्यापार से बड़ी धनराशि आती थी जिसने इन लोगों को समृद्धि और गौरव की आर्थिक सुरक्षा प्रदान की।

लक्षणात्मक पठन (सिम्पटोमेटिकरीडिंग), रीडिंग कैपिटल में अल्थुसर के महत्त्वपूर्ण योगदान को संदर्भित करता है। पुस्तक में लक्षणात्मक पठन को दो स्तरों में विभाजित किया गया है। सबसे पहले, एशले का मानना है कि कैपिटल लिखते समय, मार्क्स ने डेविड रिकार्डो और एडम स्मिथ जैसे ब्रिटिश शास्त्रीय अर्थशास्त्रियों के लक्षणात्मक पठन का प्रदर्शन किया। दूसरा, एशले ने मार्क्स के वैचारिक विकास के लिए तदनुरूपी लक्षणात्मक अध्ययन किया। 1840 से 1844 तक की अवधि मार्क्स के विचारों के विकास का प्रारंभिक काल था, जब वे हीगल, कांट और फिचटे से गहराई से प्रभावित थे। 1845 में मार्क्स ने प्रारंभिक विचार को तोड़ दिया, जो "जर्मन विचारधारा" में परिलक्षित होता है। 1857 उनके विचार के विकास के लिए एक संक्रमणकालीन अवधि थी और 1857 के बाद ही मार्क्स के विचार एक परिपक्व अवस्था में प्रवेश कर पाए। एशले का मानना है कि पाठ के स्पष्ट शब्दों के पीछे "मौन शब्दों" की एक परत छिपी होती है, जैसे चेतना के नीचे अचेतन छिपा होता है। तदनुसार, पठन को दो श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है : एक, लेखक की आत्मा के मार्गदर्शन में उथला पढ़ना है और दूसरा, पाठ में जानबूझकर गलतियाँ, विकृतियाँ, रिक्त स्थान और खामोशी ढूँढ़ना, उनकी तुलना स्पष्ट पाठों से करना, और गहन

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

लक्षणात्मक पठन करना है। द थ्योरी ऑफ लिटरेरी क्रिएशन में मार्शल की व्याख्या के अनुसार लक्षणात्मक पठन का उद्देश्य कार्य, विचारधारा और इतिहास के बीच संबंधों को गहरे स्तर से खोजना है।[29] और लेखक को जानबूझकर अलग–थलग करते हुए, यह अपने आप में गहरे और अधिक जटिल सामाजिक इतिहास के करीब है।

लक्षण पढ़ने की विधि का उपयोग करते हुए आलोचकों की एक नई पीढ़ी बड़ी संख्या में गैर–विहित और विहित–विरोधी (एंटी–कैनोनिकल) कार्यों की समीक्षा कर सकती है जिन्हें पश्चिमी साहित्य के इतिहास में भुला दिया गया और उपेक्षित किया गया। उदाहरण के लिए, यूनाइटेड किंगडम में, लॉरेंस स्टोन की "जियांगडी की जीवनी" है, वह समय अनुक्रम को एक संयोग की तरह उलट देता है। लेखक, चरित्र और पाठक के बीच संबंध तोड़ता है, और समय से पहले उत्तर–आधुनिकतावादी रचनात्मक तकनीक का प्रयोग करता है। गॉथिक उपन्यास भी हैं जो डरावनी, हिंसा और भूतों को प्रस्तुत करने का प्रयास करते हैं। फूको ने बताया कि साडे और गोया के बाद से आधुनिक दुनिया में कला के किसी भी काम में तर्कहीनता एक निर्णायक कारक रही है।[30] इस युग में, यूरोपीय साहित्य और कला ने इच्छा को उजागर करने और सृजन के नियमों को साहसपूर्वक आगे बढ़ाने पर जोर दिया, जिसे उस समय के विभिन्न लक्षण माना जा सकता है। कारण जटिल नहीं है : जब पूँजीवाद कारण के नाम पर धर्मनिरपेक्ष जीवन में अपनी पाखंडी नैतिकता को बढ़ावा देता है, तो लोग या तो तर्क की बेड़ियों में जकड़ जाते हैं, या प्रसिद्धि और भाग्य की खोज करते हैं, या इच्छा की तेज चीख में जीवन के आदिम सुख का अनुभव करते हैं।

पहचान की समस्या निरंतर बनी रहने वाली समस्या है। पश्चिमी बौद्धिक इतिहास के दृष्टिकोण से, यह आधुनिकता का एक उत्पाद है, जो कई दरारों से गुजरा है और विभिन्न प्रतिमानों को प्राप्त किया है। सांस्कृतिक और राजनीतिक अर्थों में, यह दमन और प्रतिरोध के बीच तनाव को दर्शाता है, और उपनिवेशवाद, नारीवाद और अल्पसंख्यक विमर्श जैसे सांस्कृतिक आलोचना स्कूलों की महत्त्वपूर्ण चेतना और विश्व व्यापार संगठन की चिंताओं को मजबूती से उजागर करता है। साहित्यिक आलोचना में पहचान साहित्य, संस्कृति, इतिहास, भाषा आदि के मुद्दों को व्यवस्थित रूप से जोड़ती है। और क्लासिक्स और लोकप्रिय, लालित्य और

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

जनता, जनता और आलोचकों के मुद्दों को आलोचनात्मक दृष्टि में लाता है। इसलिए, हमें कई स्तरों पर सैद्धांतिक अर्थ और पहचान की आलोचनात्मक प्रकृति को समझना चाहिए, और पूँजीवादी व्यवस्था के तहत आधुनिक लोगों के भाग्य को गतिशील रूप से प्रकट करना चाहिए।

V

समकालीन भारतवर्ष में भी पहचान के प्रश्न पर अनेक जद्दोजहद चल रहे हैं। इनमें एक समकालीन प्रभावी धारा यह मानती रही है कि भारत में पहचान के प्रश्न को औपनिवेशिक सत्ता द्वारा सत्ता के हस्तांतरण एवं उस हस्तांतरण की प्रक्रिया तथा उस प्रक्रिया में सहभागी लोगों का प्रभावी समूह भारतीयता का प्रतिनिधित्व नहीं करता है। इस धारा से ही गाँधी–नेहरु विरासत की आलोचना और पहचान के समाजवादी विमर्शों की आलोचना निकलती है। यह धारा हाल के वर्षों में सत्ता की भागीदारी करते हुए अनेक ऐसे प्रश्नों से रूबरू हो रही है जिनकी सत्ता से बाहर रहते हुए यह एक प्रकार की आदर्शवादी आलोचना करती थी; किन्तु, सत्ता की भागीदारी करते हुए इसने आधुनिकता, औद्योगिकरण, निजीकरण, वैश्वीकरण एवं तकनीकी विकास की उसी प्रक्रिया एवं मार्ग को अपनाया है जिसके प्रति यह आलोचनात्मक रूप से मुखर हुआ करती थी। अब अपने बचाव के लिए यह धारा मल्टीप्ल मॉडर्निटी के तर्क का सहारा लेती हुई प्रतीत होती है। जिसमें यह भाव अन्तर्निहित होता है कि आधुनिकता की भी एक भारतीय अवधारणा हो सकती है। इसी कारण यह धारा अतीत के भारत का पुनरुत्थान का लक्ष्य आधुनिकता के समायोजन के साथ लक्ष्य रूप में रखती है। साथ ही इसी लक्ष्य में उसका पहचान का विमर्श भी अन्तर्वलित होता है।

उल्लेखनीय है कि मल्टीप्ल मॉडर्निटी के विचार पर ब्योर्न विटट्राक[31] एवं आइसेन्सटेड[32] ने महत्त्वपूर्ण काम किया है। किन्तु, यह दोनों ही विचारक यह स्थापित करने में विफल रहे हैं कि जब आधुनिकता को लेकर हीगल और मार्क्स की धाराएँ एकमत नहीं हो सकती तब मल्टीप्ल मॉडर्निटी का विचार समायोजन का संवाहक कैसे बन सकता है। वस्तुतः मल्टीप्ल मॉडर्निटी का विचार जिस तरीके से दुनिया भर में काम कर रहा है उसमें देखने को यह मिलता है कि पश्चिम में उत्पन्न राजनीतिक संस्थाएँ, अर्थव्यवस्था के स्वरुप एवं तकनीक को जब दुनिया के अलग–अलग देशों

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

में अपनाया जाता है तब वे वहाँ भी अपनी जड़ें जमा लेते हैं, भले ही इस प्रक्रिया में परंपरागत समाजों को कुछ सांस्कृतिक बदलावों से गुजरना पड़ता हो। यहाँ इस प्रश्न पर विचार करने की जरुरत है कि इन बदलावों के परिणामस्वरूप एक दो शताब्दी के बाद इन समाजों का स्वरुप कैसा होगा ? क्योंकि स्वयं यूरोप में आधुनिकता ने जिन पहचानों, संस्कृतियों, भाषाओं, आस्था प्रणालियों, ग्रामीण उद्योगों एवं सावयवी समाज के मूल्यबोध और आस्था प्रणाली को बदल दिया है, वह रातों–रात की घटना नहीं है। बल्कि इसमें दशकों और शताब्दियाँ बीत गयीं हैं। अपने भारतवर्ष में भी आधुनिकता के कारण पहचान संकट उत्पन्न हो रहे हैं और लोगों को परंपरागत पेशों को छोड़कर नए व्यावसायों को अपनाना पड़ रहा है। भूमिका परिवर्तन के इस युग की जड़ों को गहरे उतरने में अभी समय लगेगा और इसके परिणाम दो–तीन दशक बाद ही दिखेंगे। बहरहाल, हम जिस अर्थव्यवस्था को अपना रहे हैं उसमें से यदि उपभोक्तावाद को निकल लिया जाये और उसमें अतीत के भारत की मूल्यबोध से जुड़े सुचिता, करुणा, त्याग, अपरिग्रह, अहिंसा इत्यादि को शामिल किया जाये तब क्या हम समाज में मांग उत्पन्न कर पाएंगे ? शायद नहीं, क्योंकि इन मूल्यों से आधुनिक उद्योगों को जीवन रक्त प्राप्त होने वाली डिमांड उत्पन्न नहीं की जा सकती। न ही आधुनिकता के साथ पर्यावरण संरक्षण की मूल्यबोध आधारित अतीत के भारत की जीवनशैली समायोजित हो सकती है। किन्तु, पहचान आधारित आज का भारतीय विमर्श इन विरोधी लक्ष्यों को एक साथ प्राप्त करने का दावा कर रहा है। आंकड़ों के आधार पर जब यह दावे विफल होते हैं तब यह तर्क दिया जाता है कि अभी यह शुरुआती दौर का ही रुझान है और आगे चलकर 2050 तक इस लक्ष्य को जरुर हासिल कर लेंगे। किन्तु, 2050 में न तो यह दुनिया ऐसी रह जाएगी और न ही हमारा भारतवर्ष।

पहचान संघर्ष के भारतीय विमर्शों में सवर्ण बनाम पिछड़ी जातियाँ, पितृसत्तात्मक पुरुष पहचान बनाम नारीवादी लिंग भेद रहित पहचान, राष्ट्रीय बनाम क्षेत्रीय पहचान, बहुसंख्यक बनाम अल्पसंख्यक पहचान तो शामिल हैं ही और हाल के वर्षों में इसमें कट्टर हिन्दू बनाम उदार हिन्दू पहचान भी सम्मिलित होती जा रही है। पहचान के इन प्रतिरोधी दावों के बीच पहचान–समायोजन की प्रक्रिया भी गतिशील है। इस गतिशीलता को जो तत्त्व सबसे अधिक प्रकट करता है वह है वंचित एवं पिछड़ी जातियों का

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

प्रतिनिधित्व, पुनर्वितरण एवं प्रतिष्ठा की राजनीति में भाग लेने के लिए परंपरागत दलों को छोड़कर भारतीय जनता पार्टी की ओर अग्रसर होना। आज का यह समीकरण एक ऐसा समीकरण है जिसमें राम से अपनी आस्था की पहचान को जोड़ने वाला समूह भी शामिल है और राम को अपनी आस्था के पहचान में शामिल न करने वाले ज्योतिबा फुले एवं आम्बेडकर मार्गी भी शामिल हैं। पहचान की धर्मनिरपेक्षता आधारित धारा कमजोर पड़ रही है और राष्ट्रवादी पहचान की राजनीतिक सक्रियता बढ़ रही है। पहचान की राजनीति आगे चलकर किस करवट बैठेगी, यह इन्हीं प्रवृतियों की सफलता और विफलता पर निर्भर करती है। किन्तु, पहचान के इन सभी विमर्शों में पहचान का अद्वैत वेदान्तिक विमर्श गायब है जिसमें 'अहम् ब्रह्मास्मि' और 'तत्त्वमसि' की शिक्षा दी गयी है।

आचार्य, राजनीति शास्त्र विभाग,
आर्य महिला पी.जी. कालेज (का.हि.वि.वि.), वाराणसी-221002
शोधार्थी, मध्यकालीन एवं आधुनिक इतिहास विभाग
ईश्वर शरण डिग्री कॉलेज, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, प्रयागराज

सन्दर्भ एवं पादटिप्पणी –

1. *विश्वनाथ मिश्र (2019), पश्चिमी ज्ञानोदय के वैचारिक संकट, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली, पृष्ठ–12–26.*
2. *मिल, जे.एस. (1900), अ सिस्टम ऑफ लॉजिक, लन्दन, लोंगमान एंड ग्रीन कंपनी.*
3. *वाल्जर, माइकल (1990), द कम्यूनिटेरियनक्रिटिक ऑफ लिबरलिज्म, पोलिटिकल थ्योरी, भाग–18, अंक–1, पृष्ठ–6–23.*
4. *हैबरमास, जुरगेन (1984), अ थ्योरी ऑफ कोम्युनिकैटिवरैशनलिटी, बोस्टन, बेकनप्रेस.*
5. *सात्र, ज्यां पाल (2018), बीइंग एंड नथिंगनेस, न्यू यॉर्क, रूटलेज.*
6. *किमलिका, विल(1990), कंटेम्परारी पोलिटिकल फिलोसोफीरू एन इंट्रोडक्शन, ऑक्सफोर्ड, कैलेरैंडन प्रेस, पृष्ठ–215.*
7. *रॉल्स, जॉन(1971), अ थ्योरी ऑफ जस्टिस, मेसाचुसेट्स, हार्वर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, पृष्ठ–123–125.*
8. *रॉल्स, जॉन(1971), अ थ्योरी ऑफ जस्टिस, मेसाचुसेट्स, हार्वर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, पृष्ठ–65–72.*

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

9. यहाँ यह समझ लेना जरुरी है कि स्वयं हॉब्स, लॉक या रूसो पहचान की समस्या पर एक ऐसे तकाजे के रूप में स्वीकार नहीं कर रहे थे जैसी की चर्चा आज होती है। यहाँ जो विश्लेषण प्रस्तुत है वह इन लेखकों के विचारों के अलोक में पहचान को समझने के बिन्दुओं को उजागर करने का एक प्रयास है।
10. क्लार्क, माइकलएवंटिलमैन, रिक (1988), सी.बी. मैक्फर्सनकॉन्ट्रिब्यूशनसटू डेमोक्रेटिक थ्योरी, जर्नल ऑफ इकनोमिक इश्यूज, भाग–22, अंक–1, पृष्ठ–181–196.
11. मर्क्युज, हर्बर्ट (2007), वन–डायमेंशनलमैन : स्टडीज इन द आइडियोलॉजी ऑफ एडवांस्ड इंडस्ट्रियल सोसाइटी, न्यू यॉर्क, रूटलेजक्लासिक्स, पृष्ठ–3–20.
12. क्लार्क, माइकल (1997), कांट्स रिटोरिक ऑफ एनलाइटनमेंट, द रिव्यु ऑफ पॉलिटिक्स, वॉल्यूम–59, अंक–1, पृष्ठ–56–59.
13. हीगल (1977), फेनोमेनोलोजी ऑफ स्पिरिट, अनुवादक–ए.वी. मिलर, ऑक्सफोर्ड, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, पृष्ठ–127–128.
14. हॉल, स्टुअर्ट, (1991), "द क्वेश्चन ऑफ कल्चरल आइडेंटिटी", इन मॉडर्निटी एंड इट्स फ्यूचर, एडिटेड, एस. हॉल, डी. हेल्ड और टी. मैकक्रू, कैम्ब्रिज, पॉलिटी प्रेस, पृष्ठ–275.
15. हॉल, स्टुअर्ट, (1991), "द क्वेश्चन ऑफ कल्चरल आइडेंटिटी", इन मॉडर्निटी एंड इट्स फ्यूचर, एडिटेड, एस. हॉल, डी. हेल्ड और टी. मैकक्रू, कैम्ब्रिज, पॉलिटी प्रेस, पृष्ठ–277.
16. लैरेन, जॉर्ज (1994), आइडियोलॉजी एंड कल्चरल आइडेंटिटी, कैम्ब्रिज, पॉलिटी प्रेस, पृष्ठ–149.
17. कांट, इमैनुएल (2012), फिजिकल जियोग्राफी (1802), वाटकिंस (सम्पादित), कांटरू नेचुरल साइंस (द कैंब्रिज एडिशन ऑफ द वर्क्स ऑफ इम्मानुएल कांट, पृष्ठ–434–679), कैंब्रिज, कैंब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस, पृष्ठ–576.
18. करेल, डी.एफ. (2000), द बॉडीज ऑफ ब्लैक फोकरू फ्रॉम कांट एंड हीगेल टू डू बोइस एंड बाल्डविन, बाउंड्री–2, वॉल्यूम–27, अंक–3, पृष्ठ–103–134.
19. हाल, स्टुअर्ट (1996), "ग्राम्सी रेलेवांस फॉर द स्टडी ऑफ रेस एंड एथिनिसिटी", स्टुअर्ट हाल द्वारा सम्पादित, डी. मोर्ले एंड डी.के. चेन, लन्दन, रूटलेज, पृष्ठ–446.
20. गिडेंस, एंथनी (1987), द नेशन–स्टेट एंड वायलेंस, वॉल्यूम–2, बर्कले, यूनिवर्सिटी ऑफ कैलिफोर्निया प्रेस, पृष्ठ–119.
21. गिडेंस, एंथनी (1987), द नेशन–स्टेट एंड वायलेंस, वॉल्यूम–2, बर्कले, यूनिवर्सिटी ऑफ कैलिफोर्निया प्रेस, पृष्ठ–273.
22. गिडेंस, एंथनी (1987), द नेशन–स्टेट एंड वायलेंस, वॉल्यूम–2, बर्कले, यूनिवर्सिटी ऑफ कैलिफोर्निया प्रेस, पृष्ठ–269.

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

23. गिडेंस, एंथनी (1987), द नेशन–स्टेट एंड वायलेंस, वॉल्यूम–2, बर्कले, यूनिवर्सिटी ऑफ कैलिफोर्निया प्रेस, पृष्ठ–124–25.
24. गिलरॉय, पॉल (1993), द ब्लैक अटलांटिक, मैसाचुसेट्स : हार्वर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, पृष्ठ–126.
25. गिलरॉय पॉल (1997), "डायस्पोरा एंड द डिटोरस ऑफ आइडेंटिटी", इन आइडेंटिटी एंड डिफरेंस, के. वुडवुड द्वारा सम्पादित, लंदन, सेज पब्लिकेशंस, पृष्ठ–335.
26. सईद, एडवर्ड (1993), कल्चर एंड इम्पीरियलिज्म, न्यूयॉर्क, विंटेज बुक्स, पृष्ठ–66.
27. सईद, एडवर्ड (1993), कल्चर एंड इम्पीरियलिज्म, न्यूयॉर्क, विंटेज बुक्स, पृष्ठ–67.
28. एशक्रॉफ्ट, बिल और अहलूवालिया पाल (1999), एडवर्ड सईद, लंदन, रूटलेज, पृष्ठ–92–96.
29. स्टोरी, जॉन (2021), कल्चरल थ्योरी एंड पॉपुलर कल्चर : एन इंट्रोडक्शन, (9वां संस्करण), रूटलेज, पृष्ठ–165.
30. फौकॉल्ट, माइकल (2006), मैडनेस एंड सिविलाइजेश, न्यूयॉर्क, विंटेज बुक्स, पृष्ठ–266.
31. विटटॉक, ब्योर्न (2000), वन, नन और मेनी ? यूरोपियन ओरिजिन्स एंड मॉडर्निटी एज अ ग्लोबल कंडीशन, डेडलस, भाग–129, अंक–1, पृष्ठ–31–60.
32. आइसेन्सटेड, एस.एन. (2000), मल्टीप्ल मॉडर्निटीज, डेडलस, भाग–129, अंक–1, पृष्ठ–1–29.

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

इतिहास : संस्कृति की जीवनी

कमलनयन

क्या इतिहास को संस्कृतियों की जीवनी कहना उचित है ? सामान्यतः इतिहास को मनुष्य के कर्म का विवरण समझा जाता है। इस विवरण में भी राज्य और राजनीति पर केन्द्रित कर्म की ही प्रधानता रहती रही है। इतिहास को मनुष्य की चेतना अथवा यूं कहें मनुष्य के चित्त की अभिव्यक्ति के रूप में – जिसमें उसके सभी तरह के चैत्त–व्यापार आ जायें – देखे जाने का चलन नया है। हमारे प्रश्न, कि क्या इतिहास को संस्कृतियों की जीवनी कहा जा सकता है, के उत्तर के लिये इतिहास और संस्कृति के स्वरूप पर थोड़ा विचार करना आवश्यक होगा।

इतिहास और संस्कृति, मनुष्य के व्यावर्त्तक लक्षण हैं जो उसे शेष सृष्टि से अलग करते हैं। मनुष्य प्राणी एवं उसका समाज दोनों संस्कृति से परिभाषित अस्तित्त्व हैं। जबकि मनुष्येतर प्राणी और उनके समाज संस्कृति–रहित जैविक व्यवस्थायें मात्र होते हैं। मनुष्य व उसके समाज की बात वास्तव में संस्कृति की ही बात है। हमारे इस कथन में यह बात अन्तर्निहित है कि मनुष्य का स्वरूप सांस्कृतिक है और यह प्रदत्त अथवा सिद्ध नहीं अपितु साध्य है। इसका कारण मनुष्य का आत्म–चेतन होना है। आत्म–चेतना में ही अपने प्रदत्त स्वरूप की अकिंचनता व अपूर्णता के बोध और इस अपूर्णता के निवारक साध्य स्वरूप के बीज का अंकुरित हो पाना संभव होता है। मनुष्य अपने स्वरूप को उस समाज में प्राप्त करता है जिसका वह सदस्य होता है। इसके विपरीत समस्त मनुष्येतर चराचर सृष्टि सिद्ध–स्वरूपा है। वह जो है बस वही है।

संस्कृति की कोई एक सर्वस्वीकृत अवधारणा अथवा परिभाषा नहीं है। फिर भी, संस्कृति विषयक जो समझ 20वीं शताब्दी में आकर बनी है वह संस्कृति को एक ऐसी मूल्य–व्यवस्था के रूप में देखती है जिससे मानव समाज परिभाषित होते हैं।

उन्मीलन – वर्ष 36, अंक 1, जनवरी–जून 2022
ISSN-0974-0053
U.G.C. Care List : Arts & Humanities, SI.No. 310

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

संस्कृति क्या है, इसका स्वरूप क्या है, इस चर्चा में जाने से पहले कुछ बातें सामने रखना उचित होगा। मानव समाज मनुष्य की स्वरूप विषयक अवधारणा पर आधारित होते हैं। मनुष्य क्या है, उसका स्वरूप क्या है, यह कल्पना मानव समाजों का आधार होती है। मनुष्य के स्वरूप विषयक अवधारणायें ही मानव समुदायों की अनेकता/बहुलता का, प्लूरेलिटी का आधार होती हैं। इसके विपरीत मनुष्येतर समाज किसी साध्य–स्वरूप की कल्पना पर आधारित नहीं होते। उन समाजों का बनना और होना उनके अन्तर्गत संगठित जीवों के अस्तित्त्व नैरन्तर्य के प्रयोजनार्थ ही होता है। किन्तु, जैसा हमने ऊपर कहा, मनुष्य का स्वरूप प्रदत्त अथवा सिद्ध नहीं अपितु साध्य होता है। जिसकी सिद्धि को सुलभ बनाने की प्रक्रिया के क्रम में समाज गठित होते हैं, सामाजिक संस्थाओं का निर्माण होता है। इसका अर्थ यह नहीं कि आत्म–संरक्षण जैसे आस्तित्त्विक प्रयोजन मानव समाजों की गठन के मूल में नहीं होते। हम जैविक मूल्यों से लेकर परम आध्यात्मिक मूल्यों की निःश्रेणी मनुष्य के समाजों में देखते ही हैं। आत्मरक्षा के निमित्त कैसे–कैसे उपाय मनुष्य द्वारा किये जाते रहे हैं हम जानते ही हैं। ये मूल्य सभी मानव समाजों में सामान्य हैं। आस्तित्त्विक नैरन्तर्य अथवा जिजिविषा तो जीव मात्र का सामान्य गुण है। किन्तु वे सांस्कृतिक मूल्य जिनसे मानव समाज परिभाषित होते हैं वे ऐसे अतिक्रामी मूल्य हैं, जिनके चरितार्थन में अस्तित्त्व साधनभूत होकर अपनी अर्थवत्ता खोजता है।

यदि आज ही की बात करें तो आज पश्चिम–प्रसूत प्रजातंत्र हमारा राज्यादर्श है। प्रजातांत्रिक मूल्यों के पल्लवन एवं चरितार्थन हेतु संवैधानिक व्यवस्था के अन्तर्गत सामाजिक–राजनैतिक–आर्थिक तंत्र का निर्माण किया गया है। योरप में प्रजातंत्र जिस मनुष्य के लिये निर्मित हुआ वह मनो–दैहिक तंत्र से परिभाषित जीव है और इस व्यवस्था का उद्देश्य सबके स्वार्थ की सिद्धि है। सबका स्वार्थ सबके सुख में निहित है। सुख अन्ततः इस प्राणी का मनो–दैहिक परितोष है। और यह भोगवादी आधुनिक अर्थव्यवस्था के विकास के आदर्श से स्पष्ट है। इसके विपरीत पूर्व–आधुनिक कालीन भारतीय समाज में मनुष्य का जो स्वरूप कल्पित था वह पारमार्थिक था, आध्यात्मिक था। समाज जिसे 'वर्णाश्रम' कहा जाता था, उसका प्रयोजन परम् सत् के रूप में कल्पित मनुष्य के आध्यात्मिक स्वरूप की सिद्धि था। अवधेय है कि समाज के सभी लोग इस ओर प्रवृत्त होते हों, ऐसा भी नहीं

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

था। किन्तु परमार्थ सर्वस्वीकृत आदर्श था। इस मान्यता के पीछे कि वर्णाश्रम की परिधि में धर्माचरण से परम् पुरुषार्थ (मोक्ष) की उपलब्धि होती है, प्रवृत्ति में निवृत्ति साधने को प्रेरित करना लक्षित था। इस प्रकार, इस परिधि का निर्माण परम पुरुषार्थ की सिद्धि का मार्ग प्रशस्त करने को लक्षित करके ही हुआ था। दूसरे शब्दों में, वर्णाश्रम का लक्ष्य मनुष्य की स्वरूप विषयक दृष्टि के पल्लवन और उसके चरितार्थन में साधनभूत होना था। इसी प्रकार राज्य का लक्ष्य न केवल समाज को बाह्य आक्रमणों से रक्षा प्रदान करना था बल्कि वर्णाश्रम की रक्षा भी था। इस प्रकार, वे मूल्य जिन्हें समाज अपने स्वरूप के रूप में धारित करते हैं, वे उसकी संस्कृति, कहलाते हैं और इन मूल्यों से ही संस्कृतियाँ पहचानी जाती हैं। उन मूल्यों का अनुसरण उनकी (समाज की) ऐतिहासिक यात्रा में जीवनी का रूप लेता है। जैसा हमने पीछे कहा, पश्चिम में आज मनुष्य एक मनोदैहिक संरचना के रूप में परिकल्पित है। वहाँ सामाजिक समानता आदि के आदर्शों से अनुप्राणित प्रजातांत्रिक समाज मनुष्य विषयक इसी कल्पना पर आधारित है।[1]

इतिहास –

इतिहास को दो प्रकार से देखा जा सकता है। एक ओर इतिहास "प्रत्यक्षयोग्य सार्वजनिक घटनाओं" के विवरण के रूप में "कार्यकरण की श्रृंखला है"। दूसरी ओर, यह "सांकेतिक अर्थो (सिम्बॉलिक मीनिंग्स) का विवेचन एवं प्रतीतियों की द्वन्द्वात्मकता" की अभिव्यक्ति है। "एक में वस्तुगत अस्तित्व की सापेक्षता से क्षणरूपी काल में घटनाएँ इतिहास बनती है। दूसरी में प्रत्ययगत अर्थ सापेक्षता से चेतना के क्रमरूपी काल में आदर्श की अभिव्यक्ति इतिहास में होती है। सामाजिक परम्परा एवं आदर्श की संकेत सिद्ध चेतना, दोनों ही रूपों में संस्कृति इतिहास से जुडी रहती है, एक इतिहास बहिरंग घटनाओं का होता है, एक चेतना का जो कि सामाजिक जीवन में आदर्श के रूप में व्यक्त होती हैं।... आदर्श इतिहास... संस्कृति को एक सामान्य व्याख्या संदर्भ के रूप में प्रस्तुत करता है। इसमें व्यावहारिक इतिहास के तथ्य अन्तनिर्हित तत्वों के संकेत बन जाते हैं।"[2] यही इतिहास संस्कृतियों की जीवनी का रूप लेता है। यशदेव शल्य इतिहास को मूल्यान्वेषण से परिभाषित करते हैं। उनके अनुसार इतिहास अतीत विषयक होता है। किन्तु यह समग्र–अतीत विषयक नहीं होता। यह स्मृत–अतीत विषयक होता है। उनके अनुसार स्मृत अतीत वह अतीत होता है जो

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

"महत्त्वपूर्ण, विशिष्ट और प्रतिनिधि हो"। शल्य जी इसका आधार 'नेयार्थ' को मानते हैं। उस 'अर्थ' को मानते हैं जिससे कोई समाज अथवा कोई व्यक्ति स्वयं को परिभाषित करता है। 'नेयार्थ' व्यष्टि (इण्डिविड्युल) को 'व्यक्तित्व' प्रदान कर व्यक्ति (पर्सन) बनाता है। वे कहते हैं कि "व्यक्तित्व का... लक्षण नेयार्थ है। नेयार्थ स्मृति को भी एक भिन्न आयाम दे देता है और इसे वर्तमान और भविष्य के साथ संयुक्त कर देता है।"[3] उसके अतीत, वर्तमान और भविष्य को 'अर्थ' के, अर्थवत्ता के एक सूत्र में बांध देता है। "उदाहरणतः भारतीय समाज के सब वर्णों और समुदायों में से कुछ ही व्यक्ति संन्यासी होते थे, किन्तु जो नहीं होते थे वे उन्हें अपना अपने द्वारा असाध्य आदर्श मानकर सम्मान देते थे, क्योंकि उस समाज के लिये परमार्थ और परम पुरुषार्थ, और इस प्रकार उसका नियामक प्रतीक मोक्ष था। इस प्रकार भारतीय समाज का इतिहास इस अवधारणा के क्रियान्वयन की, इस अर्थ की तत्त्वमीमांसा, काव्य कलाओं और आचरण के माध्यम से उन्मेष और अवगाहण की, प्रक्रिया कहा जा सकता है। किसी समाज का यह केन्द्रीय प्रतीक उसके जीवन के संम्पूर्ण क्रम में एक ही बना रहे, अथवा एक ही बना रहने पर भी व्याख्या में कोई अंतर नहीं आये, यह आवश्यक नहीं होता।"[4]

संस्कृति –

संस्कृति/सभ्यता पर दार्शनिक विमर्श का आरम्भ सामान्यतः उन्नीसवीं शताब्दी में योरप में आरम्भ हुआ माना जाता है। इस काल में संस्कृति की जो अवधारणा विकसित हुई उसके अनुसार संस्कृति को मानव समाज में धारित 'अंगी' (whole) के रूप में, 'चैत्त आवयविकता' के रूप में देखा गया। इससे पहले संस्कृति कभी विचार का, दार्शनिक विचार का विषय नहीं रही। हालाँकि 'संस्कृति' और 'प्रकृति' के बीच भेद मनुष्य प्राचीन काल से करता आया है। प्राचीन काल से संस्कार, परिष्कार के अर्थ में संस्कृति को समझा जाता रहा है और यह भी कि संस्कृति वंशानुगत नहीं होती, यह मनुष्य का अर्जन है, उसकी अर्जित विरासत है। वह इसे एक समाज के सदस्य के रूप में अर्जित करता है। किन्तु अतिमानवीय अस्तित्त्व के रूप में, 'अवयवी' अथवा 'अंगी' संस्कृति की अवधारणा अपेक्षाकृत नई है। संस्कृति विषयक इस अवधारणा के उद्भव को हम जर्मन विचारकों, हर्डर, शिलर और हम्बोल्ट के दार्शनिक प्रतिपादनों में देख सकते हैं, यद्यपि इन विचारकों ने किसी संस्कृति दर्शन का प्रतिपादन नहीं किया। हर्डर संस्कृति

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

(हालाँकि वे संस्कृति शब्द का प्रयोग नहीं करते) के उदभव का स्रोत मानव चित्त को मानते हैं, जो मनुष्य के ज्ञानात्मक, भावात्मक और नैतिक कर्मों के माध्यम से अभिव्यक्त होता है। यहाँ मानव चित्त से आशय समाज–चित्त है, व्यक्ति चित्त नहीं। इसके लिये उन्होंने 'आत्मा', 'राष्ट्रीय चरित्र', 'प्रतिभा' आदि पदों का प्रयोग किया है, जिसे वे 'लोक' अथवा समुदाय में अधिष्ठित मानते हैं और यह उसकी (समुदाय की) कलाओं और शिल्प में अभिव्यक्त होता है।[5] मनुष्य के ज्ञान के, भाव के विविध प्रस्थानों में अभिव्यक्त होने वाला समाज–मानस किसी नैतिक–आध्यात्मिक मूल्य से निर्धारित मानस होता है। समाज–मानस के निर्धारक मूल्य इनके धारक समाजों को विशिष्ट बनाते हैं, विशिष्ट पहचान देते हैं। उनके अनुसार संस्कृतियाँ विशिष्ट एवं परस्पर स्वतंत्र सत्तायें होती हैं। इस प्रकार, हर्डर को हम संस्कृति विषयक परवर्ती चिन्तन का अग्रदूत कह सकते हैं। संस्कृति और इतिहास के संबन्ध पर चर्चा थोड़ा आगे चलकर करेंगे। पहले इतिहास विषयक नई दृष्टि पर संक्षेप में चर्चा करना उचित होगा।

उन्नीसवीं शताब्दी में इतिहास के स्वरूप को लेकर भी एक नई सोच उभरी। इतिहास को मनुष्य की एक सोद्देश्य यात्रा के रूप में देखा जाने लगा और यह माना जाने लगा कि इतिहास में ही उसका प्रारब्ध निहित है। वह इतिहास में ही बनता है और इसे बनाता भी है। प्राचीन व मध्यकालीन यहूदी व ईसाई परम्परा में भी इससे मिलता–जुलता विचार मिलता है। जहाँ इतिहास को मनुष्य की लौकिक जगत् से दिव्य जगत् में उन्मोचन की यात्रा के रूप में देखा गया है। किन्तु यहाँ इतिहास एक ईश्वरीय विधान की अभिव्यक्ति के रूप में देखा गया है। अठारहवीं–उन्नीसवीं शताब्दी की 'प्रौगरैस' की अवधारणा अपने मूल में इसी यहूदी–ईसाई विचार का 'लौकिकीकरण' भी कही जाती है। अब मानव इतिहास को लौकिक विकास (प्रोग्रैस) की यात्रा के रूप में परिकल्पित किया गया। 'विकास' की इस यात्रा का लक्ष्य है असीम, निर्बाध भौतिक समृद्धि अथवा धरती पर 'स्वर्ग'। यह सुविदित है कि इस धारणा का नैतिक–दार्शनिक आधार उपयोगितावादी–सुखवादी दर्शनों में प्रतिपादित हुआ है। 19वीं सदी से योरप की विचार परम्पराओं में मनुष्य और जगत् को ऐन्द्रिक–प्रत्यक्ष पर्यन्त देखने वाले ऐहिकतावादी दर्शनों का बोलबाला रहा है जो 'विकास' की इस अवधारणा (आइडिया ऑफ प्रोगरैस) के साथ संगत हैं। यह स्पष्ट ही है कि विभिन्न

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

योरपीय समाजों – प्रजातान्त्रिक भी और साम्यवादी भी – का लक्ष्य समस्त ऐहिक सुखों से परिपूर्ण 'स्वर्ग' है। यह उस मनुष्य का लक्ष्य है जो दिव्यता से रहित एक मनोदैहिक संरचना मात्र है। उस समाज का लक्ष्य है जो मनुष्य की इस अवधारणा की सामष्टिक अभिव्यक्ति है। 'विकास' को अब मनुष्य की, समाज–मानव की अ–निवार्य नियति के रूप में देखा जाने लगा। कार्ल मार्क्स, ओगस्ट कॉम्ट आदि की विचार–व्यवस्थायें इसके उदाहरण हैं। 19वीं सदी में योरपीय विचारक इतिहास का केन्द्र योरप को मानते थे और उसे वैश्विक विकास के हरावल के रूप में देख रहे थे।

किन्तु 20वीं सदी में आते आते इतिहास विषयक उपर्युक्त समग्र विश्व के एकीकृत इतिहास की धारणा, जिसका केन्द्र योरप था, अस्वीकृत हो गई और ऐतिहासिक अध्ययन की स्वतंत्र इकाई के रूप में संस्कृतियों को मान्यता मिली। अब इतिहास–दार्शनिकों ने संस्कृति को आत्मसम्पूरित विश्व अथवा समष्टि के रूप में अवधारित किया। परिणामस्वरूप प्रत्येक संस्कृति इतिहास के स्वतंत्र केन्द्र के रूप में स्वीकृत हो गई। ऐसा नहीं है कि इतिहासकारों ने राष्ट्रों के, समुदायों का इतिहास लिखना बन्द कर दिया। किन्तु अब राष्ट्र का आधार व पहचान सांस्कृतिक थी। वे एक बृहत्तर सांस्कृतिक परिवेश का अंग थे। योरप एक सांस्कृतिक इकाई है यह चेतना तो वहाँ बसने वाले विभिन्न समुदायों में मध्यकाल में भी थी। वहाँ विभिन्न भूभागों पर बसने वाले समुदाय पवित्र रोमी साम्राज्य के अंग थे और पोप को अपना आध्यात्मिक अध्यक्ष (spiritual head) मानते थे। इसे टॉयन्बी ने 'पश्चिमी ईसाईयत' (Western Christiandom) अथवा पाश्चात्य सभ्यता नाम दिया है। किन्तु, जैसा हमने ऊपर कहा, संस्कृति और सभ्यता पर गंभीर दार्शनिक विमर्श का आरम्भ 19वी सदी में आकर आरम्भ हुआ। उसकी एक इकाई, एक एकीकृत विश्व के रूप में संकल्पना का, जिसका मानव व्यक्तियों से स्वतंत्र अस्तित्व है, लक्ष्य है और मनुष्य इसमें धारित होकर इससे निर्धारित होते हैं, प्रतिपादन और विकास इसी सदी में आरम्भ हुआ। बीसवीं शताब्दी में ओसवाल्ड स्पेंगलर[6] और आर्नल्ड टॉयन्बी[7] जैसे सिद्धान्त–निर्माताओं (सिस्टम–बिल्डर्स) ने अपनी रचनाओं में उक्त धारणा को इतिहास के विश्व–व्यापी पटल पर मानव समष्टियों की इतिहास–यात्राओं के निरूपण के माध्यम से प्रस्तुत किया। इस काल में मनुष्य का इतिहास उसकी संस्कृति अथवा सभ्यता अथवा समाज के इतिहास के रूप में देखा

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

गया है। स्पेंगलर और टॉयन्बी की तरह ही पिटरिम सोरोकिन[8], निकोलाई बर्दयेव[9] आदि समाज–दार्शनिक व अल्फैड एल क्रोबर[10] जैसे नृतत्त्वशास्त्री भी संस्कृतियों को मनुष्येतर सत्तायें मानते दिखाई पड़ते हैं।

इतिहास विषयक उपर्युक्त विचार की एक विशिष्टता यह है कि इस काल में यूरोपीय इतिहास–बोध में एक नई किन्तु बहुत सारगर्भित बात यह हुई कि अब इतिहास में विचार और कला जैसे क्षेत्र भी इतिहास की परिधि में आ गये। यही कारण था की संस्कृति इतिहास का विषय बनी और इतिहास मनुष्य को आँकने का माध्यम बन गया। प्राचीन इतिहास–बोध मनुष्य के कर्म पर ही केन्द्रित था जिसमें राज्य और राजनीति की प्रमुखता रहती थी। इतिहास में विचार और कला को दिये जाने वाले महत्त्व से मानव चेतना के विकास/ह्रास के निरूपण का, मूल्यांकन का पैमाना कहीं अधिक विस्तृत हो गया। इसके कारण अब मनुष्य का कर्म ही नहीं, उसके भाव और ज्ञान के प्रस्थान भी उसमें सम्मिलित हो गये। किन्तु यहाँ यह ध्यातव्य है कि जिस मनुष्य की चेतना को आँकने की बात हो रही है वह चेतना व्यष्टि मानव की नहीं समष्टि अथवा समाज–मानव की चेतना है। मानव समष्टियाँ सभ्यताओं, संस्कृतियों के रूप लेती हैं और मनुष्य के सभी अनुसरण – कर्म के, विचार के, भाव के – इनके अन्तर्गत आते हैं और मनुष्य अपनी संस्कृति से ही परिभाषित होता है। जैसाकि हमने उल्लेख किया, संस्कृति/सभ्यता विषयंक यह समझ यूरोप में विशेष रूप से उन्नीसवीं शताब्दी में उपजी और पनपी। इसमें संस्कृति/सभ्यता की काल–यात्रा को इतिहास के रूप में देखा गया। इस धारणा में दृष्टि का एक अपूर्व विस्फार दिखाई पड़ता है।

स्पष्ट ही इस दृष्टि के अनुसार संस्कृति/सभ्यता एक नहीं अनेक हैं। बहुत से विचारक इनके जन्म और मृत्यु की भी बात करते हैं। स्पेंगलर, टॉयन्बी, श्री अरविन्द आदि के दर्शनों में यह बात स्पष्ट है। स्पेंगलर तो सभ्यताओं की मृत्यु को जीव की मृत्यु की भांति ही मानते हैं। यह भी सत्य है कि सभ्यताएँ बनती–बिगड़ती–मिटती रही हैं। टॉयन्बी आदि मृत्यु को अवश्यम्भावी नहीं मानते। भारतीय दार्शनिक जी. सी. पांडे और यशदेव शल्य भी संस्कृतियों की मृत्यु अवश्यम्भावी नहीं मानते।

हम पाश्चात्य संस्कृति के इतिहास–दार्शनिकों में से जिन दो दार्शनिकों – स्पेंग्लर और टॉयन्बी – के मत को आगे रखेंगे वे 20वीं शताब्दी के ऐसे पहले इतिहास–दार्शनिक हैं जिन्होंने संस्कृतियों को उनके

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

ऐतिहासिक आयाम में अध्ययन का विषय बनाया। हालांकि उनसे पहले उन्नीसवीं शताब्दी में दानिलेव्सकी ने अपनी पुस्तक रशा एंड योरप में संस्कृतियों के अध्ययन की नींव रखी थी। उनका अध्ययन स्पेंग्लर और टॉयन्बी के संस्कृति–विमर्श को एंटीसिपेट करता है, यह कहा जा सकता है। किन्तु स्पेंग्लर दानिलेव्सकी के काम से परिचित थे कि नहीं यह नहीं कहा जा सकता। जो भी हो, इतना अवश्य कहा जा सकता है कि तत्कालीन मानसिक–बौद्धिक परिवेश में संस्कृति विषयक ये विचार आकार ग्रहण कर रहे थे, जो आगे चलकर स्पेंग्लर और टॉयन्बी के विमर्शों में आकारित हुए।

स्पेंग्लर और टॉयन्बी, दोनों के अनुसार इतिहास संस्कृति/सभ्यता[11] का ही होता है। दोनों संस्कृति/ सभ्यता को एक अवयवी अथवा एक अंगी के रूप में रूप में परिकल्पित करते हैं जिसके सभी अंग परस्पर अन्योन्याश्रितता एवं आन्तरिक संगति के सूत्र में बद्ध होते हैं। स्पेंग्लर तो संस्कृति को एक जैविक इकाई के रूप में देखते हैं, जिसके अंग परस्पर जैविकता के सूत्र में बद्ध हैं। दोनों विचारक मानते हैं कि सभ्यताओं का जन्म अथवा उद्भव और पतन होता है। हाँलांकि अपने रचनाकाल के परवर्ती खण्ड में टायन्बी मानने लगे थे कि यूरोपीय सभ्यता स्वयं को बचा पाने में सफल रहेगी।

स्पेंग्लर –

स्पेंग्लर ने अपनी सांस्कृतिक दृष्टि का प्रतिपादन और व्याख्या अपनी महान कृति द डिकलाइन ऑफ द वेस्ट में की है। वे पुस्तक की प्रस्तावना के आरम्भ में कुछ प्रश्नों को सामने रखते हैं। उनकी यह कृति इन्हीं प्रश्नों के प्रकाश में उनकी संस्कृति और इतिहास विषयक दृष्टि की व्याख्या है। "क्या इतिहास का अपना कोई तर्क (logic) और उस पर आधारित व्यवस्था है ?", "क्या मानवता की कोई बाह्य अभिव्यक्त रूपों (outward forms) से स्वतंत्र, सामाजिक, राजनैतिक, आध्यात्मिक (spiritual), कोई तात्त्विक संरचना (metaphysical structure) विद्यमान है ?" और क्या ये रूप–विधान उस तात्त्विक संरचना की अभिव्यक्तियाँ हैं, उसी से निगमित तथा उसके अन्तर्गत हैं ? इतिहास क्या है, किसमें निहित है ? क्या यह महान सांस्कृतिक जीवन–प्रवाहों (life-courses) यथा "क्लासिकीय", चीनी आदि का योग है ? जैसाकि इनके नामकरण से स्पष्ट है, ये अपनी एक इयत्ता (आइडेंटिटी), एक व्यक्तित्त्व से सम्पन्न हैं ? क्या

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

इनके संदर्भ में जन्म, मृत्यु, युवावस्था आदि शब्दों के अभिप्राय पूरी तरह से वही हैं जो जीवों के संदर्भ में हैं ? संक्षेप में क्या समस्त इतिहास "सामान्य जैविक प्रारूपों" (general biographic tyles) का इतिहास है ? कुल मिलाकर, द डिकलाइन......, संस्कृति क्या है, इसका इतिहास, जीवन, आत्मा, स्वभाव, बुद्धि के साथ क्या संबन्ध है, इसकी अभिव्यक्ति किन–किन रूपों में होती है, तथा ये रूप – मानव समुदाय, भाषायें व युग, युद्ध तथा विचार, राज्य और देवता, कलायें व शिल्प, विज्ञान, कानून, आर्थिक संरचनायें, महान व्यक्ति तथा महान घटनायें – कहाँ तक प्रतीक के रूप में स्वीकार एवं इंगित किये जा सकते हैं,[12] ऐसे प्रश्नों का समुचित उत्तर पाने का प्रयास है।

स्पेंग्लर के अनुसार प्रत्येक संस्कृति स्वयं में एक सम्पूर्ण विश्व हैं, विशिष्ट, अविभाज्य तथा अद्वितीय। उन्होंने संस्कृति की कल्पना एक अंगी अथवा अवयवी के रूप में की है, जो अपने समस्त अवयवों को व्याप्त करता है। या यूं कहें, उसका तत्त्व उसके अवयवों को व्याप्त करता है। स्पेंग्लर इस अवयवी को संस्कृति (समाज) की आत्मा कहते हैं और इसके व्यक्तित्व को रहस्यात्मक तत्त्व 'आधार–प्रतीक' (prime-symbol) से परिभाषित करते हैं। उन्होंने संस्कृति को एक ऐसे अस्तित्त्व के रूप में देखा जो अपनी पूर्व निर्धारित बचपन, युवावस्था, वार्धक्य से गुजरती हुई अपनी निर्धारित आयु पूर्णकर समाप्त हो जाती है। इस प्रकार, स्पेंग्लर के अनुसार प्रत्येक संस्कृति एक विशिष्ट जीवन दृष्टि पर आधारित अस्तित्त्व है। सांस्कृतिक जीवन–दृष्टि को 'आधार–प्रतीक' नाम देते हैं। प्राईम सिम्बल किसी प्रकार की एक देशीय अवधारणा (spacial notion) है – एक वैश्विक दृष्टि – जो संस्कृति की जगत् चेतना को प्रतिबिम्बित करती है।[13]

स्पेंग्लर ने प्रत्येक उच्च संस्कृति को प्राईम सिम्बल की अभिव्यक्ति कहा है। वे सांस्कृतिक अवयवों में इसकी अभिव्यक्ति को दिखाते हैं। उदाहरणार्थ, पश्चिमी संस्कृति का, जिसे स्पेंगलर ने 'फाउस्टियन संस्कृति' नाम दिया है, प्राईम सिम्बल है 'विशुद्ध व असीमित देश' (pure and limitless space)।[14] फाउस्टियन व्यक्ति की विशिष्टता है अविरत, उद्दाम गतिशीलता (striving)। मानो वह अपने समक्ष विस्तीर्ण अनन्त 'देश' (स्पेस) को अपने उद्यम अपने पुरुषार्थ से भर देना चाहता हो, देश (स्पेस) के असीमित विस्तार को वह जीत लेना चाहता हो। इसके विपरीत, क्लासिकल

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

व्यक्ति (Classical man) का, यूनानी–रोमी व्यक्ति का विश्व, वर्त्तमान (present) का, 'अब–और–यहां' (here and now) का विश्व है। यूनानी–रोमी संस्कृति, जिसे स्पेंग्लर एपोलीनियन संस्कृति नाम देते हैं, का प्राईम सिम्बल है, 'इन्द्रिय गम्य सीमित देह–रूप देश का आदर्श दृष्टांत' (The sensuously present individual body as the ideal type of the extended')। दूसरे शब्दों में, 'स्थानीयता' (Local Space), 'सीमित देश' (Limited Space), ससीम, मूर्त्त एवं सुनिरूपित व्यक्ति देह (Limited Self-Contained Body)।[15] तदनुसार, नग्न प्रतिमा एपोलिनियन है और फ्यूग–कला (art of the fugue) फाऊस्टियन। यान्त्रिक स्थैतिकी (mechanical statics), देहवान ओलिम्पियन देवताओं की उपासना (cult of the Olympian gods), सीमित व लघु राजनीतिक इकाईयों (limited and small political units) के रूप में गठित यूनानी नगर राज्य (city states), इडिपस का अभिशाप तथा लिंग प्रतीक अपोलिनियन हैं।... धरा पर सुदृढ़ अविचल खड़े डोरिक तथा एट्रस्कन मन्दिर, भीतरी परिसर से रहित, मात्र स्तम्भों के मध्य अंतराल से युक्त, दीवारों पर परस्परता से रहित, परस्पर स्वतंत्र उत्कीर्ण मूर्तियां (relief) अपोलिनियन हैं; गोथिक गिरिजाघर अथवा इम्प्रेशनिस्ट पेंटिंग, जो विश्व का 'देहविहीन' (disembody the world) प्रस्तुतिकरण करण करती है, फाऊस्टियन है। क्लासिकीय देवताओं का निवास–स्थान ओलिम्पस यूनान की धरती पर एक वास्तविक पर्वत है। इसके विपरीत, एक दूसरे से अनजान और एकाकी योद्धाओं का निवास, देश के अनन्त विस्तार में, दैहिकता से रहित, तिरता वलाहल्ल[16], फाऊस्टियन है। देश के (स्पेस के) अनन्त प्रसार में ऐसा ही एकाकीपन फाऊस्टियन चेतना का है। सीगफ्राईड, पारसीफल, ट्रिस्टान, हैमलेट और फाऊस्ट समस्त संस्कृतियों के नायकों की तुलना में सबसे एकांकी नायक हैं। ऐसा नायक जो स्वयं के और ईश्वर के प्रति असहज तथा असमंजस है, इस ब्रह्मांड के इस अनन्त विस्तार में एकाकी यात्री है फाऊस्टियन मानव। रेम्ब्राँ के रंगों में और बीथोवन के वाद्य–संगीत विन्यास में भी इसी अनुभव की अभिव्यक्ति हुई है। क्लासिकीय संस्कृति की दुनिया की प्रतिनिधि आत्म–व्यावृत्त, परस्पर पृथक कायाओं (separate bodies), अथवा व्यक्तियों के लिये आवश्यकता थी एक तुल्य देवकुल की जो मूर्त्त देवताओं वाले पुरातन बहुदेववाद के रूप में अवधारित हुआ। अपोलो और एथेन्स को एक प्रतिमा

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

के माध्यम से अभिव्यक्त किया जा सकता है, किन्त फाऊस्टियन ईश्वर एक अनन्त एवं सर्वसम्पूर्ण सत्ता है जिसकी प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति आर्गन फ़्यूग के स्फोट में अथवा धार्मिक संगीत–काव्य (cantata) के पवित्र–शुद्ध निष्पादन में अथवा इसाई मास में होते देखी जा सकती है। इसमें आश्चर्य नहीं कि आधुनिक फाऊस्टियन भौतिकशास्त्र ने भौतिक जगत् को अथांह शून्यता और दिक्–काल के दोलायमान अपरिमित (indefiniteness) विस्तार में अशरीरी, अमूर्त्त (bodyless) ऊर्जा (energy) के रूप में विलयित (dissolve) किया है।[17] इसी प्रकार स्पेंग्लर अन्य संस्कृतियों के अवयवों में उनके आधार प्रतीकों की अभिव्यक्ति सविस्तार दिखातें हुए संस्कृतियों की ऐतिहासिक जीवन यात्रा निरूपित करते हैं।

आर्नल्ड टॉयन्बी[18] –

टॉयन्बी के समक्ष पहली समस्या इतिहास अध्ययन के आरम्भ बिन्दु की है। वे इतिहास का एक ऐसा 'सुबोधगम्य क्षेत्र', एक ऐसी 'इकाई' खोजना चाहते हैं, जो स्वयं में एक आत्मसम्पूरित इकाई हो तथा जिसके अध्ययन से ही उसका इतिहास स्पष्ट हो जाय।[19] उसके लिए किसी अन्य के सन्दर्भ की आवश्यकता न हो। उनके अनुसार यह इकाई कोई राष्ट्रीय–राज्य अथवा सम्पूर्ण मानव जाति नहीं हो सकती[20], मानव जाति का वह समूह हो सकता है जिसे हम समाज कहते हैं, जिसके अन्तर्गत ग्रेट ब्रिटेन जैसे अनेक समुदाय – फ्रांस, पोर्च्यूगल, नेदरलैंड्स स्केण्डिनेविया के देश इत्यादि – सम्मिलित हों।... हमें अंशों अथवा खण्डों पर नहीं, अपितु समग्र समष्टि को केन्द्र में रखकर विचार करना चाहिये, किसी एक सदस्य विशेष की नहीं अपितु समस्त समाज की जीवनी के अध्यायों की घटनाओं के अवलोकन के लिये; सदस्यों के भाग्यचक्र को पार्थक्य में नहीं अपितु एक साथ एक ही थीम की अभिव्यक्तियों के रूप में समझने के लिये अथवा जो एक आर्केस्ट्रा में बजने वाली हॉरमनी में लयबद्ध स्वरविन्यासों के रूप में तो अर्थवान हैं किन्तु स्वरों की परस्पर विछिन्न श्रृंखला के रूप में नहीं।[21]

इस प्रकार ग्रेट ब्रिटेन व अन्य उपर्युक्त राष्ट्र एक उस समाज के अंग हैं, जिसे टॉयन्बी 'पश्चिमी इसाई–जगत् कहते हैं। इसकी उत्पत्ति लगभग 775 ई. में हुई थी तथा इसमें पश्चिमी–यूरोपीय महाद्वीप में शार्लमान के राज्य का क्षेत्र तथा ब्रिटेन में रोमन साम्राज्य के जो हिस्से थे, सम्मिलित थे।[22] टॉयन्बी के अनुसार, आज हमें ऐसे पाँच समाजों का पता है और कुछ

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

ऐसे समाजों का भी जो निर्जीव होकर समाप्त हो गए हैं। इन में से एक समाज का यानि अपने (पश्चिम यूरोप) समाज के मूल की खोज में हमे ऐसे महत्त्वपूर्ण समाज (ग्रीको–रोमन सभ्यता) की मृत्यु का भी पता चला है, हमारा समाज जिसकी संतान स्वरूप है।[23] टॉयन्बी, कुल मिलाकर इस प्रकार के 21 समाजों की पहचान करते हैं।[24] (बाद में इन समाजों की संख्या बढ़कर 26 हो जाती है) ये समाज आदिम समाजों से भिन्न सभ्यता सम्पन्न समाज हैं।

यहाँ यह प्रश्न उठाना स्वाभाविक है कि इस समाजों का विभेदक लक्षण क्या है ? टॉयन्बी सभ्यता को इतिहास अध्ययन की 'आत्मसम्पूरित इकाई' कहते हैं। वे सभ्यताओं को जीवन–प्रवाह (लाईफ–कोर्सेज़) भी कहते हैं। उनके लिए सभ्यताएँ आत्मसम्पूरित–विश्व हैं। वे सभ्यताओं में परस्पर भेद भी करते हैं और उन्हें विभिन्न नामों से अभिहित भी करते हैं : हैलेनिक (ग्रीको–रोमन), वेस्टर्न, इंडियन, चाइनीज़ आदि। किन्तु उन्होंने सभ्यता की अपनी कोई सुनिश्चित परिभाषा नहीं दी। हालाँकि वे सभ्यताओं की 'आत्मा' का विभिन्न सन्दर्भों में उल्लेख भी करते हैं, किन्तु इस आत्म का स्वरूप क्या है इस विषय पर अ स्टडी ऑफ़ हिस्टरी में कहीं स्पष्ट चर्चा नहीं मिलती। तब सभ्यताएँ किस प्रकार के एकत्वों को कहा जा सकता है ? हालाँकि रीकन्सीडरेशंस (इस खण्ड में टॉयन्बी ने आलोचनाओं के उत्तर दिये हैं) में उन्होंने सभ्यता के एकत्त्व विषयक अपने प्रतिपादन पर आक्षेपों के प्रकाश में चर्चा की है। उस चर्चा में उनका मत स्पष्ट है। वे, मूल्यों पर आधारित सामाजिक संबंधों की व्यवस्था में, जो सभ्यताओं का आधार है, सभ्यता का एकत्त्व देखते हैं।[25] टॉयन्बी की विचार–व्यवस्था में सभ्यता के जन्म, उत्थान व पतन एवं सभ्यताओं की बहुलता अथवा अनेकता में उनका एकत्त्व अन्तर्निहित ही है। ऐसा प्रतीत होता है कि उनका तथ्यों की प्रत्यक्ष–गोचरता पर आग्रह उन्हें संकेत–गोचर मूल्यों अथवा प्रत्ययों की वास्तविकता को स्पष्ट रूप से स्वीकारने से रोकता है।

टॉयन्बी सभ्यताओं के वर्धन और विकास पर चर्चा करते हुए कहते हैं कि कला के क्षेत्र के उदाहरणों से सभ्यताओं की परस्पर विशिष्टता को आसानी से समझा जा सकता है, क्योंकि यह निर्विवाद है कि प्रत्येक सभ्यता की अपनी विशिष्ट कला शैली होती है। यदि ऐसा है तो वह कौन सा गुण है जो प्रत्येक सभ्यता की कला को विशिष्ट बनाती है। इसकी गहरी छान–बीन में पड़े बिना इतना अवश्य कहा जा सकता है कि यह निर्विवाद तथ्य है कि

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

विभिन्न सभ्यतायें विभिन्न कार्यकलापों को महत्त्व देती हैं (दूसरे शब्दों में, प्रत्येक सभ्यता की अन्य सभ्यताओं से भिन्न प्रवृत्ति होती है)। उदाहरण के लिये, यूनानी सभ्यता की दृष्टि सौन्दर्यबोधात्मक थी। यह इस तथ्य से स्पष्ट है कि यूनानी विशेषण 'केलोस' जिसका अर्थ कलात्मक सुन्दरता है, नैतिक सुन्दरता के लिये भी प्रयुक्त होता है। दूसरी ओर, इण्डिक सभ्यता और उससे सम्बद्ध हिन्दू सभ्यता की मूल प्रवृत्ति धार्मिक है।[26] एक स्थान पर पश्चिमी सभ्यता की मूल प्रवृत्ति का उल्लेख करते हुए इसे 'यंत्र' पर आधारित भौतिकवादी सभ्यता कहते हैं।[27] यहाँ यह स्पष्ट ही है कि टॉयन्बी सभ्यता को उसकी मूल प्रवृत्ति से परिभाषित मानते दिखाई पड़ते हैं। और यह प्रवृत्ति समाज के आधारभूत मूल्यों से निर्धारित होती है।

टॉयन्बी सभ्यताओं की उत्पत्ति मनुष्य की सर्जनात्मक 'प्रतिक्रियाओं' (responses) का परिणाम मानते हैं। उनके अनुसार मानव समुदायों के समक्ष समय समय पर प्राकृतिक (बाहरी) और आंतरिक चुनौतियाँ (challenges) उपस्थित होती रहती हैं। जिन समुदायों की प्रतिक्रियायें सर्जनात्मक व समुचित होती हैं वे इन चुनौतियों का सामना करते हुए सभ्यताओं की स्थापना करने में सफल होते हैं।[28] सभ्यताओं का विकास भी मानव समुदायों की सर्जनात्मक शक्ति पर ही निर्भर करता है। सर्जनात्मकता की क्षीणता से सभ्यतायें अवरुद्ध होकर पतनशील हो जाती हैं।

टॉयन्बी कहते हैं कि उनके द्वारा निर्धारित 26 सभ्यताओं में से 21 का पतन हो चुका है। किन्तु वे सभ्यताओं के पतन विषयक नियतिवादी सिद्धांत को स्वीकार नहीं करते, अतः पतन को अवश्यम्भावी नहीं मानते।[29]

उनके अनुसार "मृत्यु सभ्यताओं की नियति नहीं हैं, इसलिये हमारी सभ्यता मरने के लिये अभिशप्त नहीं है। यह सत्य है कि अब तक सोलह सभ्यताओं की मृत्यु हो चुकी है और नौ सभ्यतायें मृत्यु के कगार पर हैं। हमारा छब्बीसवाँ स्थान है और हम विवश होकर जन्म–मरण के नियमानुसार मरने के लिये नहीं हैं। सर्जनात्मक शक्ति की दिव्य चिंगारी हममें मौजूद है। यदि हम उसे प्रज्वलित रख सकें तो ग्रह–नक्षत्र हमारे लक्ष्य तक पहुँचने के प्रयत्नों को विफल नहीं कर सकते।[30] उनके अनुसार सभ्यताओं का ह्रास न तो ईश्वर का कृत्य है और न ही यह प्रकृति के अन्धे नियमों के कारण होता है; न ही टेक्नोलॉजी की असफलता के कारण और न ही विदेशी आक्रमणों की हिंसा के परिणामस्वरूप। वे अन्ततः इस निष्कर्ष पर

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

पहुँचते हैं कि सभ्यता का पतन किसी बाह्य कारण अथवा हिंसा से नहीं वरन् आत्महत्या से होता है। इस संदर्भ में वे जॉर्ज मेरिडिथ की कविता 'लव्ज़ ग्रेव' से उद्धृत करते हैं :

"दुःखमय जीवन में, ईश्वर जानता है,
किसी शैतान की आवश्यकता नहीं है! हमारे मनोविकार जाल बुनते हैं:
हम अपने ही मिथ्यात्व से ठगे जाते हैं।"[31]

किन्तु यहाँ द्रष्टव्य है कि संस्कृतियों/सभ्यताओं के पतन को अवश्यम्भावी मानने वाले भी पतन के कारण सभ्यताओं में प्राण की क्षीणता में, सर्जनात्मक शक्ति की क्षीणता में ही देखते हैं। बाह्य आक्रमण, प्राकृतिक आपदायें आदि पतन में उत्प्रेरक का काम करते हैं। प्रश्न तो यह है कि क्या प्राण की क्षीणता अवश्यम्भावी है ? टॉयन्बी इस विषय में बहुत स्पष्ट नहीं हैं। किन्तु वे क्रिश्चियनिटी में पश्चिमी सभ्यता का पतन से त्राण देखते हैं। इसके विस्तार में जाने का यहाँ प्रसंग नहीं है। यहाँ इतना कह देना पर्याप्त होगा कि टॉयन्बी के अनुसार सभ्यातायें अपने पतन की प्रक्रिया के दौरान विश्वजनीन धर्म (universal religion) को जन्म देती हैं, यही मानव कल्याण का मार्ग है। योरपीय सभ्यता के प्रसंग में यह धर्म क्रिश्चियनिटी है।

भारतीय परिप्रेक्ष्य –

भारत में संस्कृति विषयक चिन्तन 20वीं शताब्दी में योरपीय संम्पर्क का परिणाम कहा जा सकता है। वास्तव में 'संस्कृति' 'कल्चर' शब्द का ही अनुवाद है। हालाँकि 'संस्कार' शब्द पुराना है। किन्तु संस्कृति नहीं। सामान्यतः भारत में हो रहा संस्कृति विषयक चिन्तन पश्चिम में हो रहे चिन्तन का अनुचिन्तन मात्र है। भारत में संस्कृति पर सुव्यवस्थित दार्शनिक विचार करने वाले पहले ऐसे पहले विचारक श्री अरविन्द हैं जिनकी मूल प्रतिज्ञायें और पदावली भारतीय है और जिनका चिन्तन वेदान्त की परम्परा में प्रतिष्ठ है। उनके अनुसार संस्कृति 'सामाजिक मानव' (social man) द्वारा स्वयं के स्वरूप को समझने एंव चरितार्थ करने का उद्यम हैं। उनके शब्दों में, संस्कृति मनोमय जीवन का स्वयं मनुष्य के अपने ही लिये अनुशीलन है। इसकी प्रक्रिया की अभिव्यक्ति इतिहास में होती है। अरविन्द संस्कृति को एक ऐसी समष्टि के रूप में देखते हैं जो मनो–दैहिक आविर्भाव है और आध्यात्मिक लक्ष्य, जिसे अरविन्द परम् शिव कहते हैं, के चरितार्थन की

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

यात्रा है। अरविन्द समष्टि–रूप संस्कृति की गति चक्रात्मक मानते हैं तथा मनोवैज्ञानिक प्रवृत्तियों के आधार पर सांस्कृतिक युगों का विभाजन करते हैं। वे संस्कृति की परमगति मनुष्य द्वारा परम् सत्ता के साथ तादात्म्य में देखते हैं।[32] हम यहाँ श्री अरविन्द के संस्कृति–दर्शन के विस्तार में नहीं जायेंगे और 21 वीं सदी के दो भारतीय चिन्तक यशदेव शल्य और जी. सी. पांडे के संस्कृति दर्शनों की संक्षेप में चर्चा करेंगे। इन दोनों के संस्कृति और इतिहास विषयक प्रतिपादन श्री अरविन्द की ही तरह वेदान्त–परम्परा में प्रतिष्ठ हैं।

यशदेव शल्य –

यशदेव शल्य के अनुसार संस्कृति 'समाज की आत्मा' है।[33] समाज का यह 'आत्म' मानव–चेतना में परमार्थ विषयक दृष्टि (सद् विषयक दृष्टि) के रूप में आविर्भूत होता है। जिसे शल्य जी समाज की 'जीवन–दृष्टि' कहते हैं। इसका ग्रहण समाज अपने 'स्वरूप' के रूप में करता है जो उसे आदर्श अथवा साध्य के रूप में उपलब्ध होता है। दूसरे शब्दों में, संस्कृति, जिसे शल्य जी जीवन–दृष्टि कहते हैं, परमार्थ (सत्य और मूल्यविषयक परम अर्थ) विषयक प्रत्यय से परिभाषित होती है और आत्म–चेतन चित्त में आविर्भूत होती है। जिसके क्रियान्वयन के क्रम में समाज का गठन होता है। इसलिये वे इसे 'समाज की आत्मा' कहते हैं। यहाँ यह प्रश्न स्वाभाविक ही है कि परमार्थ विषयक दृष्टि का आविर्भाव किस चेतना में होता है – व्यक्ति–चेतना में अथवा समाज–चेतना में ? प्रो. पांडे व्यक्ति चित्त (induvidual psuche) में मानते हैं।[34] इस प्रसंग में शल्य जी दो अन्य दार्शनिकों – क्रोबंर और दुर्खीम – का उल्लेख करते हुए कहते हैं कि यद्यपि ये तीनों संस्कृति के स्वतंत्र अस्तित्त्व की मनुष्येतरता को स्वीकार करते हैं, फिर भी ये विचारक "अस्तित्त्व विषयक इस सर्वसाधारण धारणा से मुक्त हो पाने में" असमर्थ हैं "जिसके अनुसार समाज अन्ततः देहाधिष्ठित व्यक्तियों का समवाय है।" शल्य जी के अनुसार, "अस्तित्त्व–विषयक यह लोक– धारणा चित्त के आयामों के संबन्ध में गहरी भ्रांति पर पर आधारित है जिसका निराकरण सामाजिक चित्त या संस्कृति के अस्तित्त्व को समझने के लिये आधारभूत महत्त्व का है।"[35] इस विषय में उनके प्रतिपादन के विस्तार में जाना विषयान्तर होगा।[36] यहाँ इतना कहना पर्याप्त होगा कि शल्य जी के अनुसार 'समाज' और 'व्यक्ति' दोनों मनुष्य मूलक अस्तित्त्व हैं। ये दोनों चैत्त अस्तित्त्व

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

हैं। मानव–समाज को चैत अस्तित्त्व कहने का अर्थ है कि इसका आविर्भाव और विद्यमानता संकल्पमूलक हैं। इसे संकल्प–मूलक कहने का यह अर्थ नहीं है कि किसी समय कुछ व्यक्तियों ने सम्मिलित होकर विचारपूर्वक इसकी स्थापना की थी।[37] समाज विषयक करार–सिद्धान्त (कॉण्ट्रेक्ट–थीसिस) समाज की उत्पत्ति इसी प्रकार देखता है, यद्यपि इस करार को यह वास्तविक रूप में नहीं देख कर केवल सैद्धान्तिक रूप में ही देखता है। यदि ऐसा होता तो समाज व्यक्ति–समुदाय ही होता, इसे संकल्प–मूलक कहने का अर्थ है कि यह अपने निर्माण में अतिचित्तमूलक नहीं है और इसकी विद्यमानता और सुचारूता निरन्तर प्रयत्नापेक्षी है, जिसके न्यून होने पर यह शिथिल या नष्ट भी हो जाता है। किन्तु तब इस संकल्प का अधिष्ठान कहाँ है ? अधिकांश विचारकों के लिये किसी चित्त–वृत्ति का अधिष्ठान किसी अतिवैयक्तिक चित्त में देख पाना असंभव प्रायः ही रहता है। शल्य जी के अनुसार समाज चेतना का सामष्टिक आयाम है और व्यक्ति उसी चेतना का वैयष्टिक आयाम। 'व्यक्ति' और 'समाज', ये एक ही अस्तित्त्व के दो आयाम हैं, एक ही चित्त के दो स्तर हैं एवं ये दोनों युगपत् रूप से घटित होते हैं। वे समाज क़ो अतिवैयक्तिक अस्तित्त्व के रूप में देखते हैं। जो व्यक्तियों का समवाय न होकर ऐसा अतिवैयक्तिक चैत्त अस्तित्त्व है जिसमें व्यक्ति धारित होते हैं। और दोनों का आधारभूत तत्त्व सांस्कृतिक प्रत्यय है, जिसे शल्य जी अतिवैयक्तिक 'आत्म–प्रत्यय'[38] भी कहते हैं। आत्म–प्रत्यय के ये दोनों स्तर एक ही चित्त में युगपद् रूप से अस्तित्त्व ग्रहण करते हैं। समाज में एक केन्द्रिय प्रतीक के रूप में सामाजिक चेतना इस दृष्टि को लक्षित करके उसकी उपलब्धि हेतु प्रवृत्त होती है। इस रूप में सामाजिक स्तर पर संस्कृति सृजन–परम्परा ही है, क्योंकि 'सृजन का तत्त्व' मूल्य का चरितार्थन है।[39] सांस्कृतिक मूल्यों का चरितार्थन विविध सांस्कृतिक विधाओं, जैसे धर्म, पुराण, कला, शिल्प, दर्शन, विज्ञान, भाषा आदि के माध्यम से होता है। यही दृष्टि राजनीतिक, सामाजिक व आर्थिक व्यवस्थाओं का निर्धारण भी करती है। यही समाज की आंतर एकता अथवा सांस्कृतिक एकता का सूत्र है।

सांस्कृतिक एकत्व को, जो किसी संस्कृति के 'जीवन–दर्शन' अथवा 'विश्व–दर्शन' में निहित कहा जा सकता है, संस्कृति का ज्ञातृत्वाभिमान (अपनेपन का बोध) कहा जा सकता है जिसमें इसकी अन्तर्निहित सप्राण समंजसता का मूल है, जो मानव समाज में अपने

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

चरितार्थन के क्रम में अभिव्यक्त होता है।[40] संस्कृति का अधिष्ठान अनुभूत एकत्व में नहीं देखा जा सकता। शल्य मानते हैं कि वैयक्तिक स्तर पर यह अनुभूत एकत्व होता है, जिसकी वृत्ति अभिमान है जो अन्य समस्त वृत्तियों को एक सूत्रता प्रदान करती है। इसी प्रकार सांस्कृतिक एकत्व की अनुभूति 'हम भारतीय', 'हम हिन्दु', 'हम मुसलमान' जैसी अभिमान रूपों में अभिव्यक्त होते हुए देखी जा सकती है।[41]

प्रत्येक संस्कृति परमार्थ विषयक दृष्टियों में से एक होने के कारण एवं समाज के इसके क्रियान्वयन का माध्यम होने के कारण, दोनों ही – संस्कृति और समाज – अनिवार्यतः विशिष्ट होते हैं।

अब प्रश्न उठता है कि परमार्थ विषयक दृष्टि, जिसका आर्विभाव प्रत्यायत्मकतया केन्द्रीय प्रतीक के रूप में होता है, उसके अन्तर्गत विविध सांस्कृतिक अवदानों में आन्तर एकत्व के सूत्र को कैसे देखा जा सकता है ? साहित्य, कलाओं, भाषा आदि में एक ओर और विज्ञान, राजनीति, अर्थतंत्र, विधि–व्यवस्था आदि में दूसरी ओर किस प्रकार प्रतीकगत समरूपता देखी जा सकती है ? शल्य जी इसके लिए उदाहरण देते है, "भारतीय संस्कृति का मूल आत्मबोध योग–साधना पूर्वक मोक्ष कहा जा सकता है और इसके लिए इस आंतरिक एकत्व को हम असंख्य स्त्री–पुरुषों के तीर्थाटन, साधुओं, रूण्डमुण्ड साध्वियों, बाल–विधवाओं, लुंजपुंज भिखारियों, वनस्थ संन्यासियों, धर्मार्थ अर्थ–दान करते धनिकों में, राजा जनक के ऋषित्व में, गौतम के बुद्धत्व में, अशोक के पश्चाताप में, हर्ष के राजकोष–दान में, (वर्ण एवं) आश्रम–व्यवस्था में, अजामील–गीध–व्याध की भक्ति में तथा अन्य मतवादों के प्रति आदर में, देख सकते है। ये सब (मिलकर) एक संस्थान बनाते हैं जिनकी आन्तर एकता इस मूल दृष्टि में है।[42]

इस प्रकार, शल्य जी के अनुसार संस्कृतियाँ समाजों के आत्म–चरितार्थन की अभिव्यक्तियाँ हैं। मूल्यानुसरण, मूल्य–चरितार्थन कालिक आयाम में घटित होता है, जो सांस्कृतिक पर्येषणा को ऐतिहासिक बना देता है। यहाँ यह कह देना समीचीन होगा कि मूल्य–पर्येषणा के क्रम में सांस्कृतिक अवयवी की ऐतिहासिक यात्रा का आरम्भ होता है। इसी मूल्य पर्येषणा की यात्रा इतिहास का विषय होती है।

गोविन्दचन्द्र पाण्डे –

गोविन्दचन्द्र पाण्डे संस्कृति को मूल्यों की परम्परा अथवा मूल्यों के

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

चरितार्थन की परम्परा कहते हैं। यह परम्परा आत्मा के अपने सत्य के, स्वरूप के, खोज की ही परम्परा है। यह आत्म–व्यक्ति–चित्त (इन्डविज्युअल साइके) में साक्षात्कृत होता है तथा यह साक्षात्कार प्रतीक व संकेतों के माध्यम से सामाजिक परम्परा में प्रविष्ट होता है। इस प्रकार, मूल्यानुभव जब संकेतों के माध्यम से अभिव्यक्त होते हैं तो विशिष्ट सामाजिक ऐतिहासिक परम्पराओं के रूप में संस्कृति अस्तित्व में आती है।[43] यहाँ बुद्ध के प्रातिभ साक्षात्कार का उदाहरण देखा ज़ा सकता है।

साक्षात्कृत अर्थ की सिद्धि की प्रक्रिया में आत्म अपने स्वरूप को चरितार्थ करता है। यह आत्म–व्यक्ति–चित्त में उसके शाश्वत सत्य के रूप में उद्‌भासित् होता है। और इस तरह संस्कृति को आत्म के आत्मलाभ की प्रक्रिया को कहा जा सकता है। पांडे जी कहते है कि मूल्य अन्वेषण की वस्तु होते हैं। अन्वेषण उसी प्रकार जीवन में अन्तर्निहित है जैसे पदार्थ में गति। किन्तु मनुष्य का अन्वेषण मानवेतर प्राणियों से भिन्न होता है। मनुष्य में अन्वेषण आत्म–चेतन तथा विवेचित होता है तथा इसके तत्त्व प्रतीक का रूप ग्रहण करते हैं। समस्त मानव अन्वेषण मानव प्रकृति में अधिष्ठित होते हैं, सहज उत्पन्न होते हैं, किन्तु अपरिभाषित होते हैं। मानव प्रकृति के दो स्तर हैं – जैव और आध्यात्मिक। परिणामतः मूल्य आत्मरक्षा से लेकर शुद्ध आध्यात्मिक अनुभव तक विस्तीर्ण रहते हैं। क्योंकि निम्नतर मूल्य औपाधिक होते हैं अतः अतिक्रामिता की इच्छा इनमें अन्तर्निहित होती है। इस प्रकार निम्नतर मूल्यों से उच्चतर मूल्यों की ओर बढ़ने की प्रक्रिया द्वन्द्वात्मक होती है। मूल्यों का आर्विभाव विकासात्मक प्रक्रिया का अनुसरण करता है। मूल्यानुभव की अभिव्यक्ति तथा सम्प्रेषण आदर्श प्रक्रिया को सामाजिक–ऐतिहासिक वास्तविकता प्रदान करता है तथा सांस्कृतिक विश्व का निर्माण मनुष्य के आत्मचरितार्थन के उद्यम की ऐतिहासिक परम्परा के रूप में होता है।[44] संस्कृतियाँ सामाजिक–ऐतिहासिक परम्पराओं के रूप में प्रज्ञा की सार्वभौमिक परम्परा के विशिष्ट संस्करण होती हैं। बाह्य संरचना के आधार में एक "जीवन–दर्शन" (weltanschauung) समाया रहता है। एक क्रियात्मक जीवन– प्रत्यय के रूप में यह संस्थाओं के निर्माण तथा कार्य को आधार प्रदान करता है। विश्वास के रूप में यह प्रमाणिक तथा उचित, उत्कृष्ट तथा परमशुभ के लिए व्यक्ति की पर्येषणा को दिशा प्रदान करता है। जैसा हमने ऊपर उल्लेख किया, यह जीवन–दृष्टि, एक प्रातिभ साक्षात्कार

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

के माध्यम से उद्‌भूत होती है, जो व्यवहार (प्रैक्सिस) से अवियोज्य है, प्रतीक के रूप में अभिव्यक्त होकर सामाजिक परम्परा में प्रविष्ट होती है। विद्या, साधना, आगम, धर्म और नीति आदि पर्येषणाओं के माध्यम के रूप में विशिष्ट संस्कृतियों से धारित विशिष्ट समाज रूप लेते हैं।[45]

जैसाकि उपर्युक्त चर्चा से स्पष्ट है कि पांडेजी संस्कृति को मूल्यदृष्टि के चरितार्थन की अभिव्यक्ति कहते हैं।

पांडेजी के अनुसार निर्धारित भौगोलिक सीमाओं के भीतर बसने वाली प्रजातियों, जातियों तथा समुदायों की परम्पराएँ, विश्वास अथवा इतिहास संस्कृति नहीं है बल्कि संस्कृति एक परम्परा की अन्तर्निहित एकता तथा आत्म–सीमांकन है। यह मूल्यों की एक जटिल व्यवस्था है जो प्रतीकात्मक आत्माभिव्यक्ति के सम्प्रेषण के क्षेत्र के भीतर एक अवयवी के रूप में अस्तित्वमान रहती है।[46] यह उसी प्रातिभ साक्षात्कार से परिभाषित अवयवी है जिसका उल्लेख हमने ऊपर किया है। स्पष्ट ही है कि इस अवयवी का स्वरूप कोई सिद्ध वस्तु नहीं अपितु साध्य है, चरितार्थानीय है। इस प्रकार, संस्कृति अपने आदर्श स्वरूप के चरितार्थन की प्रक्रिया है।[47] पांडेजी कहते हैं कि "मैं संस्कृति को आत्म–चेतना का लेखा–जोखा कहना चाहूगा।"[48] वास्तव में यह विकासमान चेतना का विवरण है तथा इतिहास का महत्त्व इस बात में है कि यह आदर्श चेतना की क्रमिक अभिव्यक्ति करता है।[49] पाण्डे जी के अनुसार विविध प्रजातियों, जातियों एवं समुदायों जो एक निश्चित भू–भाग में बसते हैं, परम्पराओं, विश्वासों एवं इतिहास को संस्कृति नहीं कहा जा सकता बल्कि संस्कृति वह तत्त्व है जो किसी भी मा़नव समुदाय की विविध परम्पराओं एवं विश्वासों को एकत्व प्रदान करता है। संस्कृति का यह एकत्व किस प्रकार का है ? उनके अनुसार यह विषयी का एकत्व है।[50]

पांडे जी संस्कृतियों को मूल्यों की विशिष्ट सामाजिक–ऐतिहासिक परम्परायें तो मानते हैं, किन्तु उनके अनुसार वे "सार्वभौम प्रज्ञा" की विशिष्ट व औपाधिक अभिव्यक्तियाँ हैं। यह सार्वभौम प्रज्ञा विशिष्ट जीवन दृष्टि के रूप में सामाजिक–ऐतिहासिक यथार्थ में समायी रहती है। समाज की समस्त संस्थाएं इसी दृष्टि से अनुप्राणित रहती है।[51]

ऊपर हमने जिन यूरोपीय व भारतीय विचारकों के मतों पर चर्चा की वे सभी संस्कृति को बृहत् मानव समुदायों को एकत्व प्रदान करने वाले

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

तत्त्व के रूप में देखते हैं और यह एकत्त्व समाजों की ऐतिहासिक यात्रा के क्रम में एक जीवन्त सत्त्व की तरह विकसित होता है। हालाँकि टॉयन्बी सभ्यताओं के इतिहास को किसी सत्त्व के चरितार्थन का इतिहास नहीं कहते। वे स्वयं को इंग्लिश अनुभववाद की परम्परा से जोड़ते हैं। इसलिए वे सभ्यताओं को उनके सत्त्व से परिभाषित करने से बचते हैं। किन्तु वे मानते हैं कि उनकी सभ्यताओं की उत्पत्ति, विकास, ह्रास आदि की प्रक्रिया सामान होते हुए भी ये सभ्यतायें अपने अन्वेषण में अद्वितीय होती हैं। उनकी परस्पर भिन्नता का आधार, उनकी पहचान, उनके मूल्यान्वेषण की परम्पराओं में निहित होता है। इस प्रकार टॉयन्बी के अनुसार भी इतिहास सभ्यताओं का इतिहास है।

पी 51, मधुवन पश्चिम,
किसान मार्ग, टोंक रोड,
जयपुर (राज.) 302018

सन्दर्भ एवं पादटिप्पणी –

1. *इस पर दार्शनिक चर्चा के लिये देखें यशदेव शल्य का लेख 'मनुष्य, इतिहास, तथा समाज विषयक वेदान्तिक अवधारणा', चिद् विमर्श : वेदान्तिक अनुभव का नवोन्मेष, दर्शन प्रतिष्ठान, जयपुर, 1994*
2. *जी. सी. पाण्डे, भारतीय परम्परा के मूल स्वर, नेशनल पब्लिशिंग हाऊस, नई दिल्ली, पृ 6–7*
3. *यशदेव शल्य, विषय और आत्म, राका प्रकाशन, इलाहाबाद, 2002, पृ 58*
4. *यशदेव शल्य, समाज : दार्शनिक परिशीलन, परिवर्द्धित संस्करण, विश्वविद्यालय प्रकाशन. सागर (म. प्र.) 2007, पृ 36–37*
5. *इसाया बर्लिन, विको एण्ड हर्डर, टू स्डीज़ इन हिस्ट्री ऑव आईडिआज़, हॉगर्थ प्रैस, लंदन, 1976*
6. *ऑसवाल्ड स्पेंगलर, द डिक्लाइन ऑफ़ द वैस्ट, 2 खण्डों में, अल्फ्रैड अ नोप्फ़, न्यूयॉर्क, 1917–1928*
7. *आर्नल्ड जे टॉयन्बी, अ स्टडी ऑफ़ हिस्टरी, 12 खण्डों में, ऑक्स्फ़र्ड, यूनीवर्सिटी प्रैस, लंदन न्यूयॉर्क टोरोटो, 1934–1961*
8. *देखें पिटरिम ए सोरोकिन, सोशल एण्ड कल्चरल डायनेमिक्स, तीन खण्डों में, अमेरिकन बुक कंपनी, न्यूयॉर्क 1937*

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

9. देखें निकोलाई बर्दयेव, द बिगिनिंग ऐंड दी एण्ड, प्रेजर पब्लिशर्स, 1976; द मीनिंग ऑफ़ हिस्टरी, द डेस्टिनी ऑफ़ मैन, सिमेंटन प्रैस, 2017, 2009
10. देखें अल्फ्रेड एल क्रोबर, कॉन्फीग्यूरेशन्स ऑफ़ कल्चरल ग्रोथ, यूनिवर्सिटी ऑफ़ कैलिफोनिया प्रैस, 1947
11. स्पेंग्लर जिसे संस्कृति कहते हैं टॉयन्बी ने उसे ही सभ्यता कहा है। स्पेंग्लर के अनुसार सभ्यता पतनोन्मुख संस्कृति का कृत्रिम रूप कहा है। जबकि टॉयन्बी संस्कृति को सभ्यता से पहले की अविकसित अवस्था मानते हैं।
12. ऑस्वाल्ड स्पेंगलर, द डिकलाइन ऑफ द वेस्ट, प्रथम भाग, पृ 3–4
13. विलियम ड्रे, पर्सपेक्टिव्ज ऑन हिस्टरी, रटलेज एण्ड कीगन पॉल, लंदन एण्ड बोस्टन, 1980, पृ 104
14. द डिक्लाईन...द्वितीय भाग पृ 183
15. वही, पृ 174
16. वलाहल्ल, नॉर्स पुराण कथाओं के अनुसार वह स्थान है जहाँ शहीद योद्धा ओडिन के संरक्षण में निवास करते हैं।
17. वही, पृ 183–187
18. जिस समय सभ्यताओं की उत्पत्ति विषयक प्रश्न उनके को आलोड़ित कर रहे थे, टॉयन्बी कहते हैं तब 1920 में प्रोफेसर नेमियर ने ऑस्वाल्ड स्पेंगलर की Untergang des Abendlandes मुझे दी।...(उसे पढ़ने पर) मैं हैरत में पड़ गया कि मेरा समस्त अन्वेषण स्पेंगलर ने पहले ही से पूर्ण कर दिया है, जबकि उत्तरों की बात दूर, अभी तो प्रश्न भी पूरी तरह से (दिमाग में) आकार नहीं ले पाये हैं।...किन्तु जब मैने सभ्यताओं की उत्पत्ति विषयक अपने प्रश्न के उत्तर के लिये स्पेंगलर को देखा तो लगा अभी मेरे लिये कुछ करने की गुंजाइष है।..जहाँ जर्मन प्रागानुभविक विधि असफल रही है, देखें अंग्रेज़ी अनुभववाद क्या कर सकता है।
19. आर्नल्ड टॉयन्बी, अ स्टडी ऑफ़ हिस्टरी, खण्ड 1, ऑक्स्फर्ड यूनिवर्सिटी प्रैस, 1951, पृ 17
20. देखें, आर्नल्ड टॉयन्बी, अ स्टडी ऑफ़ हिस्टरी, खण्ड 1, ऑक्स्फर्ड यूनिवर्सिटी प्रैस, 1951, प्रथम अध्याय
21. वही, पृ 22–23
22. वही, पृ 32
23. आर्नल्ड टॉयन्बी, अ स्टडी ऑफ़ हिस्टरी, एब्रिज्मेंट द्वारा डी सी सोमरवेल, ऑक्स्फर्ड यूनिवर्सिटी प्रैस, 1961, पृ 11
24. वही, पृ 133
25. आर्नल्ड टॉयन्बी, रीकन्सीडरेशंस, अ स्टडी ऑफ़ हिस्टरी, खण्ड 12, ऑक्स्फर्ड यूनिवर्सिटी प्रैस, 1951, पृ 282–292

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

26. आर्नल्ड टॉयन्बी, अ स्टडी... पूर्वोद्धृत खण्ड 3, पृ 384
27. वही, पृ 385
28. आर्नल्ड टॉयन्बी, अ स्टडी... खण्ड 1, पूर्वोद्धृत
29. आर्नल्ड टॉयन्बी, अ स्टडी...चतुर्थ खण्ड, पृ 7–12
30. वही, पृ 39
31. यहाँ अ स्टडी...चतुर्थ खण्ड, पृ 120 से उद्धृत
32. देखें, श्री अरविन्द, मानव चक्र, श्री अरविन्द आश्रम, पांडिचेरी, 2012, पृ 78
33. यशदेव शल्य, सत्ता विषयक अन्वीक्षा,, भारतीय दार्शनिक अनुसंधान परिषद्, नई दिल्ली, 1987, अध्याय 12
34. गोविन्द चन्द्र पांडे, द मीनिंग ऐंड प्रोसैस ऑफ़ कल्चर, शिव लाल अग्रवाल एंड कम्पनी, आगरा–3, 1972, पृ. 1 । प्रो. पाण्डे, जैसा कि हम उनके प्रतिपादनों में पाते हैं, वे संस्कृति और समाज 'अतिवैयक्तिक अस्तित्त्वों' के रूप में ही स्थापित करते हैं। किन्तु साथ ही उनका तर्क यह भी है कि व्यक्तियों के बिना भी समाज की कल्पना नहीं की जा सकती। ऐसा उन्होंने एक बार व्यक्तिगत बातचीत के दौरान मेरे पूछने पर भी बताया था।
35. यशदेव शल्य, समाज : दार्शनिक परिशीलन, विश्वविद्यालय प्रकाशन, सागर, परिवर्द्धित संस्करण 2009, पृ 4
36. विस्तृत चर्चा के लिये देखें, समाज : दार्शनिक परिशीलन, पूर्वोद्धत, प्रथम अध्याय
37. देखें, जोहन राल्स, ए थिअरी ऑव जस्टिस, प्रथम अध्याय
38. आत्म–प्रत्यय, परमार्थ दृष्टि, जीवन–दृष्टि आधार–प्रत्यय, केन्द्रिय–प्रतीक समाज की आत्मा आदि पद समानार्थक हैं।
39. सत्ताविषयक अन्वीक्षा..., पूर्वोद्धृत पृ 184
40. यशदेव शल्य, संस्कृति मानव कर्तृत्त्व की व्याख्या, लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 1998, पृ 28
41. समाज : दार्शनिक परिशीलन... पूर्वोद्धृत पृ
42. संस्कृति मानव कर्तृत्त्व की व्याख्या... पूर्वोद्धृत, पृ 28–29
43. गोविन्द चन्द्र पांडे, द मीनिंग ऐंड प्रोसैस ऑफ़ कल्चर, शिव लाल अग्रवाल एंड कम्पनी, आगरा–3, 1972, पृ. 1
44. वही, पृ 2
45. जी. सी. पांडे, 'कल्चर ऐंड कल्चर्स', जे. आई. सी. पी. आर. वोल्यूम 11, नंबर 3, 1994, पृ 41–42 व द मीनिंग ऐंड प्रोसैस ऑफ़ कल्चर... पूर्वोद्धृत पृ 2
46. मीनिंग एण्ड प्रोसेस... पूर्वोद्धृत, पृ. 2
47. वही, पृ 8
48. वही, पृ 33

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

49 वही, पृ 34
50. पाण्डे जी.सी., एन अप्रोच टू इण्डियन सिविलाइज़ेशन एण्ड कल्चर, पृ. 20–21
51. मीनिंग एण्ड प्रोसेस... पूर्वोद्धृत, पृ. 44

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

अल्बेयर कामू और विसंगति का नैतिक-दर्शन

विवेक कुमार पाण्डेय

अस्तित्ववाद 'अस्तित्व' और 'सार' के अंतर्द्वन्द्व से उपजा दर्शन है, जिसमें 'विचार' की अपेक्षा 'व्यक्ति' के अस्तित्व को महत्त्व दिया गया है। यह विचारधारा उन सभी मान्यताओं, सिद्धान्तों व संस्थाओं का विरोध करती है जो मानवीय गरिमा व उसके अस्तित्व को गौण बनाती हैं। इस प्रकार यह व्यक्ति के अस्तित्व व उसकी खोई हुई गरिमा की खोज करने वाला दर्शन है। अल्बेयर कामू ऐसे ही निकाय प्रमुख दार्शनिक हैं। उसका परिवेश दुःख, संत्रास, वेदना, अभाव और गरीबी का है, किन्तु उसका दर्शन गरीब नहीं है। वह हर स्थिति में जीवन को आखिरी साँस तक जीने का साहस रखने वाला विचारक है। उनके अनुसार जीवन तुकांत से ज्यादा अतुकांत है। यहाँ कुछ होने का अर्थ है तो, बहुत सारी चीजें निरर्थक भी हैं। तर्क भी है तो आस्था भी है। जन्म है तो मृत्यु भी है, खुशी भी है तो अवसाद भी है। आशा है तो निराशा भी है। सच है तो झूठ भी है। तात्पर्य यह है कि सब कुछ है और कुछ भी नहीं। जीवन उसी गति से चल रहा है; जिसके पीछे कोई तर्क नहीं है, कोई व्यवस्था नहीं है। यदि हम व्यवस्था या तर्क के माध्यम से जीवन और जगत् को समझते हैं तो विसंगति का शिकार होते हैं। अब समस्या उठती है कि यदि व्यक्ति और जगत् के मध्य विसंगति है तो, क्या विसंगति मानवीय गरिमा का अवसान नहीं है ? फिर विसंगति युक्त जगत् में मूल्यों का सृजन कैसे होता है ? वास्तव में विसंगति (Absurdity) है क्या ? यह ऐसे प्रश्न हैं जो चिंतनशील मानव को सहज ही उद्वेलित करते हैं। प्रस्तुत आलेख इन्हीं प्रश्नों के विवेचन एवं उसके समाधान का एक प्रयास है।

I

अल्बेयर कामू (1913–60) अपने सृजन 'द मिथ ऑफ सिसिफस', 'द रिबेल', 'द प्लेग' तथा 'द स्टैंजर' में जिस विशिष्ट नैतिक दृष्टिकोण को

उन्मीलन – वर्ष 36, अंक 1, जनवरी-जून 2022
ISSN-0974-0053
U.G.C. Care List : Arts & Humanities, SI.No. 310

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

अभिव्यक्त किया, उसे प्रायः 'विसंगति का नीतिशास्त्र' (Ethics of the absurdity) कहा जाता है। किन्तु विसंगति है क्या ? विसंगति कहते किसको हैं ? कामू की अधिकांश रचनाओं में यह विश्वास निहित है कि जगत् विसंगतियों से पूर्ण है। अस्तित्ववाद की भाषा में कहें तो वह एब्सर्ड है। विसंगति मनुष्य और जगत् के बीच ध्रुवीकरण है, जिसका अर्थ यह कि मन विश्व में सुसंगति और सामंजस्य की अपेक्षा करता है, जबकि अनुभव उसे असंबद्धता का होता है। इस तरह मन की आवश्यकता तथा उसकी यथार्थ अनुभूति के बीच जो असंबद्धता है, वही बिसंगति का मूल है। मनुष्य मूलतः बौद्धिक एवं विवेकशील प्राणी है और उसमें जगत् को विवेकपूर्ण ढंग से, व्यवस्थित ढंग से समझने की जिज्ञासा है, किन्तु दूसरी ओर जगत् विवेक रहित है, और उसे बुद्धि द्वारा समझना असंभव है। मनुष्य और जगत् के स्वभाव में इस विरोध के बावजूद मनुष्य जगत् की व्यवस्था में फेंक दिया गया है। मनुष्य और जगत् का यही सान्निध्य विसंगत स्थिति को जन्म देता है। मनुष्य जगत् की विविधता और अव्यवस्था के बीच एक बौद्धिक एकता को ढूँढ़ना चाहता है, किन्तु वह उसे प्राप्त नहीं होती। जगत् विवेकहीन और अबौद्धिक बना रहता हे, और ऐसे जगत् में मनुष्य की स्थिति स्पष्टतः विसंगति ही रहती है।

मानव जीवन विसंगति का पर्याय है। 'वह' कुछ नहीं है, पर होना सब कुछ चाहता है। किन्तु सब कुछ तो वह है, पूर्ण वह जिसे हम जगत् कहते हैं या ईश्वर कहते हैं। मनुष्य तो अपूर्ण है, चेतन है जो पूर्ण होकर जड़ होना चाहता है। जिसे हम मनुष्य कहते हैं, उसका मूल मंत्र है पाने की इच्छा, कुछ करने की इच्छा, कुछ सोचने की इच्छा। वह सदैव कुछ न कुछ पाते रहने की इच्छा करता है। पाने की यह इच्छा बताती है कि उसके अन्दर कोई न कोई कमी या अभाव है। इसी 'अभाव' को वह आजीवन भरता है पर भर नहीं पाता। ईश्वर भी विसंगति को बढ़ाता है कम नहीं करता।

ईश्वरीय 'विसंगति' को हम प्लोटिनस के दर्शन की पृष्ठभूमि में समझ सकते हैं। प्लोटिनस के दर्शन में सत्ता के अनेक स्तर हैं जो एक श्रृंखला में बंधे हुए हैं। इस श्रृंखला का अंतिम स्रोत ईश्वर है जो इसका सर्वोच्च स्तर है। यह ईश्वर स्वयं एक है जो जगत् की अनेकता की व्याख्या करता है, स्वयं निरपेक्ष है और जगत् की सापेक्षता का कारण है, स्वयं बुद्धि से परे है, किन्तु जगत् के सभी बौद्धिक संबंधों का स्रोत है। किन्तु कामू

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

प्लोटिनस के इस निरपेक्ष एवं बुद्धि से परे ईश्वर की सत्ता को स्वीकार करने में अपने को असमर्थ पाता है। इसके निम्नलिखित कारण हैं'–

(i) इसमें संदेह नहीं कि मनुष्य जगत् के अर्थ को समझना चाहता है और यह तभी हो सकता है जब जगत् को एक बौद्धिक एकता प्रदान की जाय। किन्तु विचित्र बात यह है कि वह सिद्धान्त जो जगत् को व्याख्यायित करता है और इस प्रकार उसे बुद्धिगम्य बनाता है, स्वयं अव्याख्यायित और बुद्धि से परे रह जाता है और इस सिद्धान्त को स्वीकार न किया जाय तो जगत् को सार्थकता नहीं मिल पाती। मानवीय बुद्धि, जो जगत् को समझना चाहती है किन्तु समझ नहीं पाती, यही विसंगति है। कामू जगत् को अर्थ तो देना चाहता है किन्तु जगत् के अर्थ को ढूँढ़ने के लिये वह जगत् से परे नहीं जाना चाहता।

(ii) प्लोटिनस का ईश्वर जो निरपेक्ष एवं अनुभवातीत है, जगत् और जीवन को एक प्रयोजन अथवा मूल्य प्रदान करता है। किंतु ऐसा करने में वह स्वयं जगत् और जीवन के मूल्यों के महत्त्व को कम कर देता है। स्पष्ट है कि जीवन और जगत् में अवमूल्यन के आधार पर ही हम किसी निरपेक्ष मूल्य को स्वीकार कर सकते हैं।

(iii) यदि जगत् की समस्त व्याख्या ईश्वर पर ही निर्भर करती है और ईश्वर सर्वोच्च मूल्य है, जिससे सभी कुछ निगमित होता है तो निरपेक्ष शुभत्व के साथ जगत् का अशुभ भला किस प्रकार समन्वित किया जा सकता है ?

(iv) यदि सब कुछ ईश्वर पर निर्भर है तो मनुष्य की तथाकथित स्वतंत्रता केवल भ्रम मात्र रह जाती है।

इस प्रकार निरपेक्ष को खण्डित कर कामू जगत् में मानव–स्थिति की विसंगति को स्थापित करता है। इस विसंगति का वास्तविक अर्थ यह है कि जगत् की व्याख्या नहीं हो सकती फिर भी मनुष्य में जागतिक व्याख्या के लिये जिज्ञासा है। वास्तव में विसंगति, मात्र असंभव को पाने की तीव्र इच्छा है। कामू इसे 'Nostalgia of the Absolute' कहता है।

II

अब प्रश्न है यदि जीवन विसंगति है, मृत्यु विसंगति है तथा जीवन जगत् का संबंध भी विसंगति है, तो यह तो एक प्रकार की नैराश्यवादी स्थिति है और नैराश्यवादी स्थिति से किसी विधायक नैतिक दर्शन का निर्माण कैसे हो सकता है? कामू का मानना है कि विसंगति जीवन का तथ्य

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

है और इसी तथ्य से हम नैतिक दृष्टिकोण को नियमित कर सकते हैं। यदि जीवन विसंगति है तो हमारा कर्त्तव्य बन जाता है कि हम उसे सुरक्षित रखें। इसकी सुरक्षा तभी हो सकती है जब बौद्धिक रूप से जिज्ञासु मनुष्य और विवेक से उदासीन जगत् का सान्निध्य बना रहे। इसी सान्निध्य से जीवन के मूल्य विकसित होते हैं। कैसे ?

जीवन यदि अर्थहीन, विसंगति, नैराश्य है तो इसकी तीन गतियाँ हो सकती हैं– (i) जीवन से पलायन (आत्महत्या), (ii) यथास्थितिवाद, (iii) संघर्ष और सृजन। अर्थहीन जीवन जीने का जब कोई प्रयोजन ही नहीं है तो व्यक्ति, जीवन को समाप्त कर सकता है। किन्तु कामू का कहना है कि, 'यदि जीवन जीते रहने के पीछे कोई तार्किक आधार नहीं है तो जीवन का अन्त करने का भी कोई तर्क नहीं।' जिसको मैंने दिया ही नहीं, उसको लेने का अधिकार कैसे ? निरर्थक जगत् के समक्ष मनुष्य को आत्महत्या नहीं करनी चाहिए, उसे विसंगत स्थिति के लिए जिंदा रहना चाहिए। आत्महत्या केवल शारीरिक ही नहीं होती, दार्शनिक भी होती है। "दार्शनिक आत्महत्या" वह है जिसमें व्यक्ति अपने उसी रूप से पूर्णतः अपदस्थ हो जाता है जिसके माध्यम से उसे विसंगति की अनुभूति होती है। दूसरी स्थिति यथास्थितिवाद की है। व्यक्ति निष्क्रिय भाव से बैठा रहे, अकर्मण्यवादी बना रहे। किन्तु यह व्यक्ति के गरिमा का उल्लंघन है, उसका 'नैतिक अधःपतन' है। वह भी मृतप्राय ही है। जीवन की तीसरी गति है– संघर्ष और सृजन की। मनुष्य यदि सहानुभूतिहीन जगत् में अकेला, निर्वासित और अजनबी है तो भी वह अथक प्रयास, संघर्ष तथा सृजन कर सकता है। यही जीवंतता का लक्षण है। इस प्रकार कामू विसंगति से जीवन के मूल्य को निगमित करता है। चार्ल्स रोलो के अनुसार, "विसंगति पर सार्त्र, मालरो आदि ने भी विचार किया पर कामू की धारणा उनसे भिन्न है। कामू के लिए विसंगति निराशा का कारण नहीं, बल्कि ऐसा विरोधात्मक साधन है जो खुशी को प्रेरणा देता है। उसकी दृष्टि में हत्या, मौतें और विसंगतियाँ जो उसके लिए सबसे महत्त्वपूर्ण समस्याएँ थीं, वस्तुतः जीवन के मूल्य को बढ़ाती हैं और वे मनुष्य को अपनी जिंदगी को और भी अधिक गहराई से जीने के लिए आमंत्रित करती हैं।"[2]

समस्या मृत्यु की नहीं, बल्कि मृत्यु का सामना करने के लिये जीवन की स्थापना की है। पेड़–पौधे और जीव–जन्तु भी जन्म लेते हैं और मरते हैं। मनुष्य भी जन्म लेता है और मरता है। पर दोनों की मृत्यु एक तो नहीं। फिर फर्क क्या है ? मनुष्य मृत्यु को एक चुनौती के रूप में स्वीकार

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

करता है, जो पेड़–पौधों में नहीं है। कामू के अनुसार– "निर्णय तो इस बात का लेना है कि मृत्यु का सामना कैसे किया जाय ? एक कापुरुष की तरह या फिर योद्धा भाव से। मृत्यु वह चट्टान है, वह बोझ है, जिसका बोध हमें होना चाहिए। मौत पर विजय नहीं, बल्कि मौत का सामना करना पड़ता है।"[3] अतः जिस विजय की चर्चा यहाँ की जा रही है, मौत का सामना के संदर्भ में, यह एक वास्तविक विजय न सही नैतिक विजय तो है ही। जीवन की अवास्तविकता में एक अजीब तरह की 'संबद्धता और मृत्यु की दुर्निवारता में भी 'विशिष्ट खुशी' यही कामू के विसंगति की कुंजी है। जिसका उल्लेख उसने 'सिसिफस के मिथक'[4] में किया है।

'सिसिफस के मिथक' में कामू यह दिखाता है कि किस प्रकार देव अभिशाप के कारण सिसिफस एक बड़े पत्थर को पहाड़ की चोटी पर ले जाना चाहता था, किन्तु जैसे ही पत्थर को पहाड़ की चोटी पर ले जाता है, वह भारी चट्टान लुढ़ककर जमीन पर चली आती है। सिसिफस हार नहीं मानता। वह दोगुनी ताकत से उस चट्टान को पहाड़ की चोटी की ओर लेकर चढ़ता चला जाता है। वह पसीना–पसीना हो रहा है, उसके कदम लड़खड़ा रहे हैं, वह हांफ रहा है, मगर पूरी ताकत से वह फिर चेष्टा करता है कि किसी तरह वह चट्टान को पहाड़ की चोटी पर स्थापित कर दे। 'सिसिफस' का निरंतर निराश, अर्थहीन अथक प्रयास ही मानव जीवन है। किन्तु विसंगति का अर्थ यदि जगत् से अर्थपूर्ण सम्बन्धों का अभाव है तो एक व्यक्ति के पत्थर ढकेलने से इस तथ्य को बदला तो नहीं जा सकता ? यह सत्य है कि हम विसंगति को बदल नहीं सकते। परन्तु हमारा अथक प्रयास हमारा कर्त्तव्य, हमारी ईमानदारी में इतनी आशा, दृढ़ विश्वास तो अवश्य है कि हम नियति को भी ठुकराकर एक दिन पत्थर को चोटी पर अवश्य चढ़ा सकते हैं। अपनी परवर्ती रचनाओं में कामू विसंगति के सम्मुख संवाद के माध्यम से खड़ा होता है।

'द प्लेग' में कामू यह दिखाता है कि 'ओरान' नगर पूर्णतः प्लेग की गिरफ्त में है। वहाँ लोगों को सामूहिक मृत्यु के यथार्थ की अनुभूति हो रही है। प्लेग के पात्र भी इस विसंगति पूर्ण संसार का सामना कर रहे हैं। शहर का पादरी फादर पेनिलो एक प्रबुद्ध व्यक्ति है जो प्लेग को वस्तुपरक तथा व्यापक व्यवस्था के अधीन ग्रहण करता है। उसके लिए महामारी का अर्थ है– पापियों को दण्डित करने का विधान। वह कहता है– "नेक लोगों को

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

डरने की जरूरत नहीं है लेकिन गुनहगार काँपेंगे।"[5] किन्तु इस विधान के प्रति फादर की आस्था उस वक्त छिन्न–भिन्न हो जाती है, जब वह अबोध बालक को मरते देखता है। इस विभीषिका से त्रस्त होकर वह भाग खड़ा होता है। दूसरा पात्र है डॉ. रियो जो 'स्व' में अर्थ खोजने का प्रयास नहीं करता। वह मनुष्य ही रहना चाहता है। वह सृष्टि की तथा मृत्यु की वर्तमान व्यवस्था को स्वीकार नहीं कर पाता है। वह मुक्ति नहीं, स्वास्थ्य चाहता है। उसका कहना है कि– "मुक्ति मेरे लिये बहुत बड़ा शब्द है। मैं इतनी बड़ी महत्त्वाकांक्षा नहीं रखता। मेरा सम्बन्ध इन्सान की सेहत से है; मेरे लिये पहली चीज उसकी सेहत है।"[6] इसलिए वह मृत्यु की व्यवस्था से संघर्ष करता है। उसकी दृढ़ धारणा है कि धर्म–भीरू मनुष्य की ईश्वर भक्ति, मृत्यु की व्यवस्था को अनिवार्य रूप से स्वीकार करने में नहीं है, बल्कि उसकी व्यवस्था से संघर्ष करने में है– "संसार का विधान मौत से निश्चित होता है, इसलिए क्या यह खुदा के हक में बेहतर नहीं होगा अगर हम उसमें यकीन करना छोड़ दें और अपनी पूरी ताकत से मौत के खिलाफ लड़े।"[7] हाँ ऐसा हो सकता है कि संघर्ष में स्थायी विजय न मिले, पर इसका अर्थ यह तो नहीं कि संघर्ष किया ही न जाय। वह प्लेग के उन्मूलन के लिए संगठन बनाता है और बड़े धैर्य से संघर्ष करता है। अन्त में वह इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि अमानवीयता में भी अस्तित्व है और निरर्थकता में भी अर्थवत्ता की ध्वनि निकलती है। इसके माध्यम से कामू मनुष्य में यह विश्वास पैदा करता है कि विसंगति तो सदैव विसंगति ही रहेगी किन्तु उससे संवादरत होकर, संघर्षरत होकर अर्थवत्ता और मूल्यों की उपलब्धि हो सकती है, न कि उससे पलायन करके।

कामू के अनुसार– "विसंगति का सही बोध हमारे अन्दर तीन सत्यों को जन्म देता है– जीवन के प्रति मेरी संसक्ति, मेरी स्वाधीनता और मेरा विद्रोह भाव। अपनी चेतन सक्रियता के बल पर मैं आत्महत्या के भाव को, जीवन की एक पद्धति में डाल देता हूँ।"[8] स्पष्ट है कि 'आत्महत्या' विसंगति के प्रति मनुष्य की कोई सार्थक प्रतिक्रिया नहीं है। यहाँ प्रश्न यह उपस्थित होता है कि मनुष्य को 'विसंगति' का बोध कैसे होता है ? कामू का मानना है कि प्रत्येक मनुष्य के अन्दर एक सहज ही 'नकार' की प्रवृत्ति होती है जहाँ वह किसी भी दमन के खिलाफ कहता है 'अब और नहीं।" इस प्रवृत्ति को वह 'विद्रोह' का नाम देता है। विसंगतियों के प्रति हमारे विरोध का

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

आरंभ उस चेतना के जागरण के साथ होता है जो इसके द्वारा आक्रान्त होना अथवा अवरूद्ध हो जाना नहीं चाहती। इसी कारण विसंगति का बोध होता है। चेतना के इस विद्रोही स्वर को ही कामू मानव का अनिवार्य धर्म मानता है– "मैं विद्रोही हूँ, इसलिए मेरा अस्तित्व है।"[9]

अपनी कृति 'The Revel' में कामू विद्रोह करने के सामर्थ्य को मानवीय व्यक्तित्व का एक महत्त्वपूर्ण आयाम मानते हैं।[10] व्यक्ति अपनी परिस्थितयों के प्रति जब विद्रोह का स्वर मुखर करता है तो वह यह कहना चाहता है कि अभी तक की स्थिति असहनीय थी, कि मनुष्य ने मनुष्य के प्रति और स्वयं के प्रति अपने दायित्व को निभाने की कोशिश नहीं की। उसका स्वर न्याय की अपेक्षा करता है और इस प्रकार जीवन की सार्थकता को पुनः स्थापित करने की चेष्टा करता है। मनुष्य में 'कुछ है' और इस कुछ से तादात्म्य स्थापित करने के बाद ही वह विद्रोह की स्थिति में आता है। इसको स्पष्ट करने के लिए कामू स्वामी तथा दास के संबंधों को प्रस्तुत करते हैं। विद्रोह के दो पक्ष हैं– (i) नकारात्मक– जिसमें मनुष्य अपने ऊपर हुए 'दलन' को नकारता है, (ii) सकारात्मक– मनुष्य का मनुष्य होने के नाते कुछ अस्मिता है, कुछ अधिकार है, उसका भी अपना व्यक्तित्व है, जिसमें किसी भी व्यक्ति को हस्तक्षेप करने का अधिकार नहीं है। इस प्रकार विद्रोही की भाषा में, उसकी नकार में, एक प्रकार की उभयभाविता निहित है। यदि वह किसी तत्त्व को नकारता है तो किसी को स्वीकार भी करता है।

अब प्रश्न उपस्थित होता है कि विद्रोह के स्तर पर व्यक्ति जिन मूल्यों की सर्जना करता है, वह व्यक्तिपरक है या सामान्य। कामू के अनुसार जड़ीभूत चेतना के जागरण के पश्चात् दास जब अपने स्वामी के आदेशों को, अन्यायों को अस्वीकार करने का निश्चय करता है, तो वह किसी स्वामी विशेष की निर्ममता के प्रति विद्रोह नहीं करता है, वह तो दासत्व की घृणित व्यवस्था के प्रति अपना विरोध व्यक्त करता है। विरोध का यही अतिक्रामी रूप उसे महत्त्वपूर्ण बनाता है। प्रथम चरण में यह वैयक्तिक माँग होते हुए भी वैयक्तिकता की अवधारणा को अस्वीकार करती है।

विद्रोह केवल दलित व्यक्ति ही नहीं करता, बल्कि दलन का नृशंस दृश्य देखकर किसी 'अन्य' का ह्रदय भी दहल उठता है। वह भी दलित के प्रति ममत्व और करुणा से भर उठता है और कहता है, अब और नहीं। एकात्म की इसी भावना पर भाई–चारे की भावना आधारित है। हर व्यक्ति को जीने का अधिकार है। जितनी स्वतंत्रता मैं अपने लिए चाहता हूँ, उतनी

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

ही स्वतंत्रता दूसरों को भी देनी होगी। हमारे जैसे ही पीड़ा, दुःख दूसरों को भी होती होगी। यही एकात्म अनुभूति मानव विद्रोह की एकमात्र शर्त है और इसी के द्वारा विद्रोह के औचित्य को प्रमाणित किया जा सकता है।[11] जहाँ जो कुछ भी आदमी को आदमी से अलग करता है, कामू के मन में उसके प्रति तीव्र घृणा है। कौन नहीं चाहता उसे प्यार मिले ? यहाँ आकर कामू का विचार 'मानवतावाद' का रूप ले लेता है। वह सभी के दुःख–दर्द, अन्याय, दलन को अपने अन्दर समाहित कर लेता है। पालवेस्ट का कहना है कि– "इन धारणाओं से कामू ने एक ऐसा मानवतावादी, निष्कर्ष निकाला जो एक तरफ रोमेंटिक रहस्यवादी आत्मवंचना से बचना चाहता है तो दूसरी ओर क्रान्तिकारी अमानवीयता से।"[12] मानवीय स्वाभिमान के समक्ष कुछ भी नहीं है। हम अपनी विसंगति से संघर्ष करके ही अपने सम्पूर्ण विकास तथा व्यक्तित्व को प्राप्त कर सकते हैं।

III

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि कामू विसंगति युक्त जगत् में जहाँ हर वस्तु अर्थहीन है, अर्थवत्ता की खोज करता है। वह उन जीवन मूल्यों की तलाश करता है, जिनके द्वारा मनुष्य, मानवीय गरिमा के साथ रह सकें। इस गरिमा की स्थापना से पहले यह जानना आवश्यक है कि "मैं कौन हूँ।" इस ज्ञान के साथ ही तब हम यह भी जानते हैं कि 'दूसरे कौन हैं'। मैं ईश्वर नहीं हूँ, क्योंकि ईश्वर अमर है, नियति के पाश से मुक्त है। मानवीय पीड़ा को समझने की उसमें शक्ति नहीं है। मैं पशु भी नहीं हूँ, क्योंकि वह मूक और असहाय होता है। तब मैं क्या हूँ ? मैं मानव हूँ। जैसा कि सार्त्र कहता है– "आदमी आदमी हो सकता है, मटर, बेर या बिल्ली नहीं।" मानव का अस्तित्व जगत् में है। जगत् की अपनी सीमा है, मनुष्य की अपनी। मनुष्य अपनी बौद्धिक कोटियों के माध्यम से जगत् को पकड़ नहीं पाता, परिणामतः विसंगति उत्पन्न होती है। विसंगति पूर्ण, अर्थहीन जगत् में, मनुष्य अर्थ का, मूल्य का सृजन करता है। 'मैं' 'तुम' के सम्पर्क से ही 'हम' का निर्माण होता है। निर्माण की इस प्रक्रिया में मानव चेतना का विशिष्ट योगदान है। उसकी संरचना ही ऐसी है कि वह, यथास्थिति में कभी रह ही नहीं सकती। तमाम अन्तर्निहित जैविक वृत्तियों के बावजूद चेतना अन्ततः महत्तर गुणों और मूल्यों को अपनाना चाहती है। वह सदैव अपने को सम्भावनाओं के मध्य पाती है और सम्भावनाओं के चयन में ही उसकी स्वतंत्रता है। वह कुछ

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

नकारती है तो कुछ स्वीकार भी करती है। यह 'निषेध' भाव ही जिसे कामू 'विद्रोह' की संज्ञा देता है, मानव व्यक्तित्व को गरिमा प्रदान करता है।

'विसंगति' और 'विद्रोह' का यह नैतिक दर्शन वस्तुतः जर्मन आधिपत्य के काल में विकसित होता है। जहाँ 'वैज्ञानिक धर्म' ने 'मानव धर्म' को च्युत कर दिया। भोग की प्राचुर्य वृत्ति ने, डार्विन की 'उत्तर जीविता' ने, अतिबौद्धिकता ने एक ऐसे 'अजनवी' व्यक्ति को निर्मित किया जो अकेला, असहाय, उपेक्षित था। उद्योग पर आधारित समाज ने उत्पादन को तो विस्तीर्ण किया किन्तु सृजन को संकीर्ण। मानव की ईश्वर बनने की अभीप्सा ने मानवता का ही नाश कर दिया। नियति और मानवीय पाप के बेतुकेपन और आतंक के बीच, चूर–चूर होते हुए आदमी की शक्ति के पास विद्रोह की सृजन शक्ति के अतिरिक्त कुछ नहीं बचा। इसी सृजन के माध्यम से वह मानव में एकात्मकता को स्थापित करता है– ऐसे समाज में एकात्मकता जो विश्व में दलित, शोषित और वंचित हैं।

विसंगति का प्रतिकार करते हुए विद्रोह का समर्थन करना कामू के दर्शन की रीढ़ है। विद्रोह जीवन है और आत्महत्या कायरता। आत्महत्या जब कायरता है तो स्पष्ट है कि जीवन जीने योग्य न हो तब भी इसे पूर्ण प्रतिबद्धता के साथ एवं पूर्ण पारदर्शिता के साथ जीया जाय। यह स्वयं मूल्ययुक्त है। जियां ग्रेनिये का कहना है कि– मालरों ने विसंगति में मृत्यु को रेखांकित किया, कामू का जोर जीवन पर है।"[13] अतः हमें जीना और मरना दोनों सीखना होगा। यह सत्य है कि मनुष्य जगत् के दुःख को गणित के आधार पर कम करने की चेष्टा करता रहा है, किन्तु इसके उपरान्त भी दुनिया में पीड़ा और अन्याय रहेंगे। इनको सीमित तो किया जा सकता है किन्तु समाप्त नहीं, फिर भी सर्जनात्मक विद्रोह के माध्यम से कामू ऐसे समाज के निर्माण का प्रयास करता है जहाँ जीवन, जीवित रहने योग्य हो, जहाँ मनुष्य की स्वतंत्रता एवं सम्मान की रक्षा पूर्ण ममत्व बोध के साथ हो। उसको पूर्ण विश्वास है कि, "व्यवहार मृदुता, स्वजन कर्म मानवीय सदाशयता की भावनाएँ एक–न–एक दिन अपना स्थान अवश्य लेंगी।"[14] इस भविष्योन्मुख आशा के कारण सार्त्र, कामू को अस्तित्ववादी न कहकर नैतिकतावादी कहता है और कहता है कि "उसे मनुष्यता से तो प्यार था, किन्तु अविश्वसनीय व्यक्तियों के माध्यम से।" फिर भी आत्महत्या का विरोध, मानवीय मूल्यों की सर्जना, इत्यादि के माध्यम से कामू एक ऐसे विधायक आचार–शास्त्र का सृजन करता है जहाँ उसका दर्शन व्यापकता को ग्रहण

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

करके व्यक्तिवाद से मानवतावाद में परिणत हो जाता है। कामू को 'आदमी होना' कठिन लगता है किन्तु इससे भी कठिन उसे एक–दूसरे से संवाद स्थापित करना लगता है।

'विसंगति' की कठिनाई से बचने के लिए मनुष्य या तो भूत का सहारा लेता या भविष्य का। वह वर्तमान में स्थिर रहना नहीं चाहता। वह आज भी कर्तव्य के नाम पर 'सिसिफस' की तरह विवश होकर व्यर्थ जिन्दगी ढो रहा है। उसमें बहुत कुछ बाध्यकारी और नियंत्रण से परे है। जन्म है, जन्म देने वाले भी हैं, जन्म का देश–काल भी है, परिवेश भी है, किन्तु इसका चुनाव वह नहीं करता। मृत्यु है, निश्चित होने के बावजूद उसका समय, स्थान और कारण वह नहीं चुन सकता। यश–अपयश में भी कुछ तो उसके हाथ में होता है, लेकिन बहुत कुछ नहीं होता और किस स्थिति में कितना उसके हाथ में होता है, यह भी नहीं मालूम होता। युगीन परिस्थितियों, सम्बद्ध व्यवस्था तथा परम्परा और परम्परा स्वीकृत नैतिकता के कारण मनुष्य स्वतंत्र चयन के निर्णय पर नहीं पहुँच पाता। ऐसी परिस्थिति में कामू मनुष्य को 'आदमी' होने का पाठ सिखाता है। वह एक ऐसे मनुष्य का मॉडल प्रस्तुत करता है, जिसमें विपरीत परिस्थितियों से जूझने का अदम्य साहस है, सतत् कर्म की प्रेरणा है, स्वतंत्रता है, मानवता है।

निष्कर्षतः हम कह सकते हैं कि सीमित स्वतंत्रता और विसंगति के साथ मनुष्य को नये मूल्यों के निर्माण में, सृजन में, प्रसव वेदना तो झेलनी ही पड़ेगी। हो सकता है सृजन की प्रसव वेदना में 'संभव जीत' न मिले, 'असंभव हार' तो मिल ही सकती है। हम पूर्ण आप्त काम न बन सकें, एक संवेदनशील मनुष्य तो बन ही सकते हैं। मनुष्य का स्थान प्रकृति में है, वह इससे विलग भी नहीं हो सकता किन्तु यह भी सत्य है कि वह पशु भी तो नहीं है। कामू का नैतिक दर्शन, मानवीय गरिमा का दर्शन है, जो जीवन के विपरीत परिस्थितियों में भी मानवीय गरिमा की कीमत पर समझौता नहीं करता। विसंगति में भी जिजीविषा को बनाये रखता है और अन्ततः विस्तृत फलक को ग्रहण करते हुए 'मानवतावाद' पर प्रतिष्ठित होता है।

सहायक आचार्य
दर्शन एवं धर्म विभाग
महिला महाविद्यालय, का.हि.वि.वि., वाराणसी

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

सन्दर्भ एवं पादटिप्पणी –

1. वर्मा, सुरेन्द्र, 'नीतिशास्त्र की समकालीन प्रवृत्तियाँ', म.प्र. हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, भोपाल, 1981, पृ. 201
2. रोलो चार्ल्स, 'द अटलांटिक', मई 1958, पृ. 27–33, उद्धृत, सिंह शिव प्रसाद, 'आधुनिक परिवेश और अस्तित्ववाद', नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, 1973, पृ. 125
3. उद्धृत, खेतान प्रभा, 'अल्बेयर कामू : वह पहला आदमी', हिन्द पॉकेट बुक, नई दिल्ली, पृ. 113
4. *Camus Albert, 'The Myth of Sisyphus', Trans. Justin Brien), Penguin, 2005*
5. *Camus Albert, 'The Plague', Hindi Trans., Chauhan Shivdan Singh and Chauhan Vijay, Rajkamal Publication, Delhi, p. 107.*
6. *Ibid., p. 240.*
7. *Ibid., p. 144.*
8. *Camus Albert, 'The Myth of Sisyphus', Penguin, p. 55.*
9. *'I revel, therefore I exist', Camus Albert, 'The Rebel' (Trans. Anthony Brower), Penguin, 1973, p. 28.*
10. *'Rebellion is one of Man's Essential Dimensions', Ibid., p. 27.*
11. *'Man's solidarity is' founded upon, and rebellion can only be justified by solidarity, The Revel, p. 27.*
12. *West Paul, 'The Modern Novel', Hutchinson, 1963, p. 17.*
13. जियां ग्रेनिये, 'अल्बेयर कामू', उद्धृत सिंह शिव प्रसाद, 'आधुनिक परिवपेश और अस्तित्ववाद', पृ. 126
14. वही, पृ. 127

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

व्यवस्था[1] की उपयोगिता के तर्कों की जाँच पर निबन्ध

आशुतोष व्यास

किसी वस्तु या व्यवस्था की उपयोगिता को उपयोगकर्त्ता के परिप्रेक्ष्य में समझा जाता है। कृत्यों एवं उनके परिणामों के नैतिक मूल्यों की जाँच के लिए पैमाने के तौर पर उपयोगितावाद ने उपयोगिता को हमारे समक्ष प्रस्तुत किया है। उपयोगिता से तात्पर्य वस्तु के उस गुण से है जो 'सुख या लाभ उत्पन्न करता'[2] है, उपयोगितावादी दार्शनिक जेरेमी बेन्थम (1748–1832) के इस सूत्र का विस्तार करते हुए, वहीं एक अन्य उपयोगितावादी दार्शनिक जॉन स्टुअर्ट मिल (1806–1873) 'दुःख का अभाव'[3], 'गुणात्मक सुख'[4] और 'अधिकतम का अधिकतम सुख'[5] के सूत्र उपयोगितावाद में पाते हैं। प्रयोजनवादी या व्यवहारवादी दार्शनिक विलियम जेम्स (1842–1910) भी व्यक्ति के कल्याण को प्रयोजन स्वीकारते हैं।[6] समकालीन दार्शनिक–अर्थशास्त्री जॉन ब्रूम वस्तु की उपयोगिता को परिभाषित करने के क्रम में[7] 'व्यक्ति की वरीयताओं' के सूत्र को प्रस्तुत करते हैं।[8]

कृत्यों के सन्दर्भ में विचारित इन सूत्रों को वस्तु और व्यवस्था की उपयोगिता के सन्दर्भ में विस्तारित किया जा सकता है, क्योंकि कृत्य या तो किसी वस्तु या व्यवस्था या विचार को साधनरूप में रखता है। किसी कृत्य के लिए उपयोगी साधन का चुनाव या किसी कृत्य को उपजाने में व्यवस्था या विचार की भूमिका को संभवतः नकारा नहीं जा सकता। या तो वस्तु शुभ को उत्पन्न करने वाली है, या व्यक्ति अपने शुभ के अनुसार अपनी वरीयताएँ निर्धारित करता है। शुभ, सुख, आनन्द या कल्याण प्राप्ति और अशुभ, दुःख, संताप से मुक्ति को लाभ–हानि के प्रदर्श के अन्तर्गत रखा जा सकता है। यह अलग है कि वह लाभ या हानि किसी भी आयाम या सन्दर्भ में हो सकती है, और लाभ या हानि को परिभाषित एवं निर्धारित करने वाले परिदृश्य या

उन्मीलन – वर्ष 36, अंक 1, जनवरी–जून 2022
ISSN-0974-0053
U.G.C. Care List : Arts & Humanities, SI.No. 310

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

आधार भी भिन्न–भिन्न हो सकते हैं। उपयोगिता एवं लाभ–हानि के प्रदर्श के उपर्युक्त संक्षिप्त विवेचन को आधार बनाकर व्यवस्था की उपयोगिता के तर्कों की जाँच पर विचार इस प्रस्तुति का ध्येय है।

किसी भी व्यवस्था या वस्तु के बारे में दिये जाने वाले उपयोगिता से सम्बन्धित तर्क मजबूत होते हैं, क्योंकि तर्क देने वाला व्यक्ति उस व्यवस्था में होता है, उसकी प्रक्रिया में संलग्न होता है, उस वस्तु का प्रयोग कर रहा होता है और इसलिये भी कि इसके विरुद्ध जाने के लिये उस व्यवस्था की छान–बीन करनी होती है, जिसमें व्यक्ति होता है। व्यवस्था की छान–बीन व्यक्ति को उस प्रक्रिया में सम्मिलित करती है, जिसमें व्यक्ति को अपनी स्वयं की स्थिति और व्यवहार को प्रश्नगत करना होता है, उसे विश्लेषित करना होता है। यद्यपि व्यवस्था या वस्तु की उपयोगिता से सम्बन्धित तर्क और व्यवस्था या वस्तु के विरुद्ध जाना दोनों बातें एक जैसी प्रतीत हो सकती हैं, परन्तु इनमें मूलभूत अन्तर है। व्यवस्था या वस्तु से मिलने वाले लाभ और उस व्यवस्था या वस्तु से होने वाली हानि पर तुलनात्मक सन्दर्भ में सोच–विचारकर व्यवस्था या वस्तु को त्यागा जा सकता है, और इस सन्दर्भ में अभी तक जो हुआ है, जो बीत गया है उस पर विचार करने की कोई तार्किक या संरचनात्मक मजबूरी नहीं होती है। परन्तु विरुद्ध जाने में अभी तक जो किया, जो हुआ उस पर विचार करने की आवश्यकता होती है, अन्यथा विरुद्ध जाने का कोई वैचारिक आधार प्राप्त नहीं हो सकता है। इस प्रक्रिया में व्यक्ति को स्वयं की मनोदशा, इच्छा, सोच, परिवेश, परवरिश पर विचार करना जरूरी है, यद्यपि इन पर विचार एक साथ सम्भव नहीं, परन्तु इन पर विचार उस प्रक्रिया में सम्मिलित है।

इस पूरी बात को एक उदाहरण से समझते हैं। एक व्यक्ति स्मार्टफोन का उपयोग करता है, इसके कई लाभ उसे पता हैं, वह पुरानों से सम्पर्क रखता है, नये लोगों से सम्बन्ध स्थापित करता है, उसे देश–दुनिया की बातें पता चलती रहती हैं, जैसे ही कोई बात उसे पता चलती है या वह कोई नयी कविता लिखता है, वह जहाँ है वहीं से दूसरों तक पहुँचा सकता है, अपरिचित बातों, शब्दों से उसका परिचय हो सकता है, उसकी पढ़ाई, उसके भविष्य न जाने कितनी बातों में उसे इसका लाभ है। उसे किसी कारणवश स्मार्टफोन की हानियाँ पता चलती हैं; वह एक काल्पनिक दुनिया में जी रहा है, यह स्वास्थ्य के लिये हानिकारक है, पर्यावरण को नुकसान हो

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

रहा है, मानसिक रूप से वह अव्यवस्थित हो रहा है, वह स्व–केन्द्रित हो रहा है। लाभ–हानि के इन दो प्रदर्शों में तुलना करके मान लेते हैं कि वह व्यक्ति स्मार्टफोन को उपयोग न करने का प्रण करता है, जिसको वह निबाहता है।

दूसरी दशा में भी वह लाभ–हानि का विचार करता है, परन्तु एक समग्रता के बोध के साथ, जिसमें यह भी सम्मिलित है कि वह स्मार्टफोन का उपयोग क्यों करने लगा, वे क्या परिस्थितियाँ थीं और स्वयं उसकी क्या मनोदशाएँ थीं जिसने स्मार्टफोन के उपयोग के लिये सकारात्मक पृष्ठभूमि तैयार की। एक–एक पहलू पर समग्रतापूर्वक विचार करने के पश्चात् स्मार्टफोन का उपयोग न करने का निश्चय ऐसी अन्य वस्तुओं या व्यवस्थाओं के प्रति विरुद्ध–भावना का संचार करने की सम्भावना रखता है। क्योंकि हम उन परिस्थितियों को पुनः उत्पन्न नहीं होने देने का प्रयास करते हैं और परिस्थितियाँ उत्पन्न होने पर हमारी दृष्टि में आ जाती हैं, यदि परिस्थितियों का संज्ञान होता हो तो।

अपने व्यवहारों के बारे में सोचना एक कष्टदायक अनुभूति होती है, इस कारण से नहीं कि यह आपको बेवजह सोच में डाल देती है, जबकि आप कुछ मनोरंजन कर सकते थे, बल्कि इसलिये कि यह आपके व्यवहार का विश्लेषण करती है, और आपके विश्वास, आपके अनुभव, आपकी सोच, आपकी इच्छा, और आपकी सामर्थ्य और असामर्थ्य का ज्ञान सम्मिलित कर विश्लेषण का माध्यम बनती है, जिसमें न केवल आप बल्कि दूसरे (समजात) भी सम्मिलित होते हैं और यह सोच भी कि अभी तक का मेरा व्यवहार कैसे गलत था, या ऐसा क्यों था, मतलब मैं गलत कर रहा था, और साथ–ही–साथ दूसरे भी ऐसा कर रहे हैं, इतने लोग कैसे गलत हो सकते हैं। यह सब इस कारण से कि व्यवहार का स्थिति से ताल्लुक माना जाता है।

व्यवहार के बारे में सोचना तब केवल कष्टदायक हो सकता है, जब यह उस व्यवहार से सम्बन्धित हो, जो केवल और केवल मेरा हो, परन्तु जब यह व्यवहार अन्यों द्वारा भी प्रदर्शित किया जाता है, तब न केवल कष्टदायक होता है, बल्कि दुविधा वाला होता है। यह एक व्यवस्था का निर्माण करता है, आवश्यक नहीं मूर्तरूप में, पर निश्चित तौर पर हमारी सोच में, हमारे मन में। उसके कई कारण हो सकते हैं, परन्तु सब कारणों में जो मूलभूत तथ्य समान है वह यह है कि हम यह सोचते हैं कि हम जिस स्थिति में हैं उसका बोध हमें है, वह हमारे सामने घटित हो रही है अर्थात् हम

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

सक्रिय हैं, चेतन हैं, हमारी स्थिति हमारी चेतनता का परिणाम है। यहाँ दुविधा उत्पन्न होती है, हमारे द्वारा किया गया कोई व्यवहार, जो हमारी उस स्थिति से सम्बन्धित है या उस पर निर्भर है, जिसके बारे में मैं स्वयं को चेतन मानता रहा था, वह बन गई है और मुझे पता तक नहीं चला। कब वस्तु या वस्तु–व्यवस्था ने हमारे व्यवहार, हमारे होने में परिवर्तन कर दिया हमें इसका संज्ञान भी नहीं हुआ, इस बात का अवधान होने या ध्यान दिलाये जाने पर हम यह सोचते हैं कि ऐसा कैसे हो सकता है। इस दुविधा को और बल इस बात से मिलता है कि कोई दूसरा है, जो मेरे जैसा ही व्यवहार कर रहा है और यह अन्य, यह दूसरा एक व्यवस्था से सम्बन्धित है, मतलब यह दूसरा एक व्यवस्था है, एक परम्परा है, एक प्रचलन है।

अब उपयोगिता से सम्बन्धित उस पहलू पर थोड़ा विस्तार से विचार करते हैं, जोकि उपयोगिता के तर्क के ढाँचे से सम्बन्धित है। किसी व्यवस्था या विचार या वस्तु के उपयोग के बारे में दिये गये तर्क केवल उस व्यवस्था, विचार, वस्तु तक ही सीमित होते हैं। वे केवल उपयोग के बारे में ही होते हैं, और उपयोग द्वारा उत्पन्न लाभ–हानि के सन्दर्भ में ही विचार करते हैं। जबकि कोई व्यवस्था या विचार या वस्तु उत्पन्न होती है, उत्पन्न होने का अर्थ है कि व्यवस्था, विचार या वस्तु एक प्रक्रिया के तहत है। अर्थात् व्यवस्था, विचार या वस्तु होने के पहले, अपनी उत्पत्ति के पहले कुछ दशाओं, कुछ घटकों, चेतन–अचेतन निर्माण सहायकों, और एक प्रक्रियागत संरचना को समाविष्ट करती है। व्यवस्था, विचार या वस्तु के होने के पहले बहुत कुछ घट रहा होता है, तब यह व्यवस्था, विचार या वस्तु होती है। यदि हम उन पर विचार नहीं करते हैं तो हम एक अन्याय की संरचना कर रहे होते हैं। हम एक ऐसे निर्णय की अपेक्षा कर रहे होते हैं, जिसमें न्याय–अन्याय पर विचार नहीं किया जा रहा है, या बहुत ही भ्रमपूर्वक या आंशिक रूप से विचार किया जा रहा है।

हमारे लाभ–हानि सम्बन्धी तर्क थोथे ही हैं और यह उपयोगिता के तर्क को मजबूती प्रदान करते हैं, क्योंकि अन्ततः इनके बारे में हम किसी भी निर्णय पर नहीं पहुँचेंगे, (हो सकता है कोई व्यक्ति किसी निर्णय पर पहुँचे, पर वह सजातीय या सहजातीय के सन्दर्भ में भी वैसा निर्णय रखेगा और अपने व्यवहार की समीक्षा भी करेगा, यह आवश्यक नहीं, जैसाकि अभी तक की चर्चा में भी स्पष्ट हुआ है।) और 'हम' 'मैं' में परिवर्तित हो जायेंगे; अर्थात्

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

यह मेरा, यह तुम्हारा व्यक्तिगत विचार है। व्यक्तिगत विचार में वस्तुगतता का अभाव माना जाता है, परन्तु हम इस कारण से निर्णय की सम्भावना पर विचार नहीं कर रहे हैं, बल्कि मन्तव्य यह है कि पक्ष और विपक्ष में समान बल की उपस्थिति होने के कारण से कोई भी विचार विजयी घोषित नहीं किया जा सकता। हालाँकि समान बल की बात केवल तार्किक संरचना के आकार के कारण ही है। यदि इसमें विषय–वस्तु को सम्मिलित किया जाता है तो समान बल की बात बलहीन होगी, क्योंकि तब अपेक्षित लाभ–हानि के लिये वैध एवं उपयोगी आंकड़ों की माँग भी की जायेगी और आँकड़ों के आधार पर निर्णय किये जायेंगे, यद्यपि यह कहना कठिन ही है कि यह तरीका भी निर्णायक स्थिति तक पहुँचने में हमें निश्चित तौर पर सक्षम बनाता है।

जब भी हम किसी व्यवस्था या वस्तु की लाभ–हानि की बात करते हैं, तो केवल वस्तु की उपयोगिता के सन्दर्भ में ही करते हैं। जबकि वस्तु या व्यवस्था की एक पृष्ठभूमि होती है, जिसमें वह उत्पन्न होती है, विकसित होती है, यदि हम इन बातों से दृष्टि हटाते हैं, तब उपयोगिता पर आधारित तर्क मजबूत होंगे, क्योंकि यह अनिर्णीत होंगे। अनिर्णीत इस कारण से कि उनके बीच तुलना करने का कोई वस्तुनिष्ठ पैमाना नहीं है। और वे तर्क हमेशा मजबूत होते हैं, जिनके हार–जीत, कमतर–बेहतर देखने का कोई वस्तुनिष्ठ पैमाना नहीं होता।

एक उदाहरण लेते हैं, काँच उद्योग के बारे में (इस उदाहरण का विचार कृष्ण कुमार की पुस्तक चूड़ी बाजार में लड़की[10] से आया है) हम कांच के सामानों का प्रयोग करते हैं, काँच के ग्लास की उपयोगिता के पक्ष में तर्क दिया जा सकता है कि यह सुन्दर होता है, इसमें चाय गर्म नहीं लगती और विपक्ष में कि काँच स्वास्थ्य के लिये हानिकारक होता है। उपयोगिता के दायरे को बढ़ाकर हम काँच के ग्लास के स्थान पर काँच के सामानों के बारे में कह सकते हैं कि वे न केवल व्यक्ति–विशेष, जो इसका उपयोग कर रहा है, के स्वास्थ्य को नुकसान पहुँचाते हैं, बल्कि पर्यावरण को जहरीला करके समस्त जीवों को नुकसान पहुँचाता है। कुल मिलाकर हम वस्तु को केन्द्र में रखकर ही तर्क कर रहे हैं। वस्तु की उपयोगिता से इतर वस्तु के निर्माण की वह प्रक्रिया है, जो आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक ढाँचे को सम्मिलित करती है। यदि हम इन सब पर विचार करें तो पायेंगे कि काँच का ग्लास या काँच एक वस्तु नहीं है, बल्कि एक व्यवस्था है, जिसमें किसी की गरीबी,

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

किसी की इच्छा, किसी का सौन्दर्यबोध और कई मामलों में समाज की रीतियाँ भी सम्मिलित हैं, जिन्हें समाज धर्म ही मानता है। एक व्यवस्था, जिसका अहसास और अनुभव करने का या जिसके बारे में सोचने का अवसर हमें नहीं है, शायद इस कारण भी कि उस बारे में सोचना हमें अपने विश्वासों, अपनी अभिरुचियों, अपनी आदतों, अपने व्यवहार के प्रति संदेह से भर सकता है, और चूँकि ये विश्वास, ये अभिरुचियाँ, ये आदतें, यह व्यवहार मेरा है, मैं ही इनमें हूँ, तो कैसे ये सही नहीं हैं, या शायद ऐसा ही कुछ और।

यद्यपि मैं अपनी बात को सही से पहुँचा पा रहा हूँ, तो मुझे व्यवस्था का कोई सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक या राजनीतिक उदाहरण देने की कोई आवश्यकता नहीं है, क्योंकि वस्तु एक व्यवस्था बन जाती है, जब भी यह हमारे सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक या आर्थिक जीवन में सम्मिलित होती है, क्योंकि वस्तु तब जो आकार ग्रहण करती है; जो संरचना पाती है, वह केवल उसका भौतिक आकार या संरचना नहीं होती।

फिर भी हम व्यवस्था की सामान्य समझ से भी उदाहरण ले सकते हैं। लोकतंत्र राजनीतिक व्यवस्था का एक उदाहरण है।[11] हम लोकतंत्र के लाभ गिना सकते हैं, लोकतंत्र प्रत्यक्ष या प्रतिनिधित्व के माध्यम से अपनी बात रखने का अवसर देता है, इसमें चर्चा के बाद, जिसमें कभी–कभी जन सहभागिता भी होती है, किसी बात को स्वीकारा जाता है, इसमें प्रत्येक व्यक्ति के पास शासन में सम्मिलित होने का समान अवसर होता है। इसके साथ–साथ हम लोकतंत्र की हानियाँ गिना सकते हैं, कि इसमें कार्य की गति बहुत धीमी होती है, यह अयोग्यता को शामिल करता है, इसमें लोकमत एक छलावा ही है। कुल मिलाकर व्यवस्था को ही केन्द्र में रखकर उपयोगिता के तर्क दिये जा रहे हैं। हम लोकतंत्र को उसके इतिहास, सामाजिक, आर्थिक पृष्ठभूमि के दायरे में रखकर नहीं देखेंगे, तब तक व्यवस्था के तर्क अनिर्णीत ही रहेंगे।

जब हम वस्तु या व्यवस्था की उपयोगिता की बात करते हैं, तो इस सन्दर्भ में उस वस्तु या व्यवस्था के समय में या उस वस्तु या व्यवस्था के बीतने के बाद उस वस्तु या व्यवस्था से क्या वास्तविक लाभ या हानि हुई है, इसके आँकड़े या व्यवस्थित अध्ययन उपलब्ध नहीं होता है, यह कहा जा सकता है कि इस कारण से हम किसी उचित निष्कर्ष पर नहीं पहुँच सकते हैं। परन्तु इन आँकड़ों या अध्ययन का न होना हमारी असमर्थता के कारण

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

नहीं है, बल्कि हमारी इन मामलों में अरुचि के कारण ही है और सम्भावना है कि यह हमारी मनोवृत्ति के बारे में प्रारम्भ में की गई चर्चा से ही जुड़ा हुआ हो।

व्यक्तियों की अभिरुचियाँ अस्थिर होती हैं, इस अस्थिरता का एक मुख्य कारक बदलती हुई परिस्थितियाँ से और व्यक्ति का निरंतर संवाद है। ये अभिरुचियाँ व्यक्ति की वरीयताओं को प्रभावित करती हैं। तब आँकड़ों के संग्रहण और उनके अध्ययन–विश्लेषण का संघर्ष केवल इतना भर नहीं है (और सम्भवतः यह गौण ही है) कि किस तरह की वस्तुएँ या व्यवस्थाएँ व्यक्तियों को पसंद हैं, अपितु यह है कि किस तरह से व्यक्तियों की अभिरुचियों में एकसमता या एकरूपता लाई जाये; क्योंकि वस्तुओं के स्वरूपतः वैविध्य की अपनी एक सीमा है। इस परिदृश्य को, आँकड़ों से लाभ–हानि के प्रदर्श में निर्णायक स्थिति को पाने में दोष का, एक कारण स्वीकारा जा सकता है।

जॉन ब्रूम उपयोगिता को व्यक्ति की वरीयता के पदों में परिभाषित करते हैं। उपयोगिता की व्यक्ति की वरीयता के रूप में दी गई परिभाषा के कारण, ऐसा प्रतीत होता है कि वस्तु इत्यादि की फलदायिता व्यक्ति की अभिरुचियों और वरीयताओं से निर्धारित होती है। और जब हम मूल्य (उदाहरणस्वरूप–नैतिक मूल्य) के स्तर पर विचार करते हैं, तो इसकी परिणति इस विचार में होती है कि वस्तु इत्यादि मूल्य–निरपेक्ष हैं। और अन्ततः यह व्यक्ति पर निर्भर करता है कि वह उस वस्तु या व्यवस्था को किस तरह उपयोग में लाता है। व्यक्ति द्वारा उपयोग किये जाने के आधार पर एवं सन्दर्भ में एक वस्तु का एक जैसा लगने वाला उपयोग अलग–अलग एवं भिन्न मूल्य प्रकट करता है। अतः इस विचार में यह आवश्यक नहीं कि मूल्य के स्तर पर वस्तु या व्यवस्था का समग्रतापूर्ण विचार किया जाये, क्योंकि मूल्य वस्तु में है ही नहीं। इस विचार की एक दूसरी परिणति यह है कि व्यक्ति की चेतना और वस्तु में विभाजन है, अतः दोनों का मूल्यांकन अलग–अलग स्तर पर करना चाहिए। और यह भी कि व्यक्ति की आशय, जोकि उसी में अवस्थित है और जिसका उसे संज्ञान भी है, के आधार पर वस्तु के उपयोग से उत्पन्न परिणाम का मूल्य निर्धारण किया जाना चाहिए। कुछ ऐसा ही जॉन स्टुअर्ट मिल कुछ अलग से लगने वाले शब्दों में व्यक्त करते हैं, "...कार्य के अच्छे या आचारयुक्त होने का उस कार्य करने के प्रयोजन से कुछ सम्बन्ध नहीं है। प्रयोजन से तो कर्त्ता की उच्चता या नीचता

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

का पता चलता है।"[12] और इस तरह से वस्तु या उससे किया गया कृत्य मूल्य–निरपेक्ष होने के कारण समग्रतापूर्ण विचार का आधार भी नहीं बन सकता है, अधिक–से–अधिक लाभ–हानि के प्रदर्श में इस पर चर्चा की जा सकती है, परन्तु वह भी तत्त्वतः व्यक्ति की प्रवृत्ति, उसकी वरीयता पर निर्भर होगी। आधुनिक भारतीय दार्शनिक मोहनदास करमचंद गांधी (1869–1948) इस तरह के विचार ढंग को साधन–साध्य के पदों में देखते हैं। और उनके मतानुसार साधन पर विचार न करना साध्य को भी दोषपूर्ण बना देता है।[13]

इस तरह हम पाते हैं कि 'उपयोगिता' के आधार पर दिये जाने वाले तर्क मजबूत संरचनात्मक ढाँचा रखते हैं। ये तर्क हमारी गतिविधि, हमारे व्यवहार, हमारी इच्छा से सम्बन्धित होते हैं। हम जो कर रहे हैं या करने की इच्छा रखते हैं; हमारे पास जो है या जो हम पाना चाहते हैं, उससे सम्बन्धित होते हैं। जब तक हम व्यवस्था या वस्तु की उपयोगिता की सीमाओं का पता नहीं लगायेंगे, जब तक उन सीमाओं को उस पृष्ठभूमि के प्रकाश में और उस स्थिति के सन्दर्भ में रखकर नहीं देखेंगे जिसमें वह व्यवस्था या वस्तु जन्म लेती है, आकार ग्रहण करती है, तब तक उनके पक्ष या विपक्ष में दिये जाने वाले तर्क मजबूत और अनिर्णीत रहेंगे। और यह अनिर्णय की अवस्था हमारी असहायता की अवस्था है, क्योंकि यह हमारी बौद्धिकता की बाड़बंदी कर चुकी है, और हम समग्रता के बोध और समग्रता की पद्धति से विचार करने की जगह अणुता, वैयक्तिकता के बोध और पद्धति का सहारा ले रहे हैं, इसे बाह्य में स्वयं की खोज के रूप में द्योतित किया जा सकता है।[14] और इसी कारण से हम अपनी स्थिति और अपने आप को, अपने परिवेश को मूल्याँकित नहीं कर पा रहे हैं और जब तक ऐसी स्थिति या विवशता है तब तक यह कहना कि मनुष्य एक बौद्धिक प्राणी है, एक छलावा है, एक झूठ है जो बार–बार हम एक–दूसरे से बोल रहे हैं, क्योंकि हम सब झूठे ही रहना चाहते हैं, क्योंकि हम सब सुविधाभोगी बने रहना चाहते हैं।

परामर्शदाता (दर्शनशास्त्र),
इन्दिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय,
दिल्ली-110068

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

सन्दर्भ एवं पादटिप्पणी –

1. आलेख का एक प्रेरक विचार और पूर्वमान्यता यह है कि वस्तु और विचार अन्ततः व्यवस्था बन जाती है, जोकि चेतना की सीमा के समरूप है। विचार, वस्तु और व्यवस्था को भाव एवं मूल्य के स्तर पर समान ढंग से ग्रहण किया जा सकता है। इसी कारण से आलेख के शीर्षक में व्यवस्था पद का उपयोग किया गया है, जोकि आलेख के मन्तव्य के अनुसार वस्तु एवं विचार को भी द्योतित करता है।
2. *"By utility is meant that property in any object, whereby it tends to produce benefit, advantage, pleasure, good, or happiness." Jeremy Bentham, An Introduction to the Principles of Morals and Legislation, Kitchener : Batoche Books, 2000, p. 14.*
3. "उपयोगिता का मतलब आनन्द–प्राप्ति तथा दुःख से बचना है।" जॉन स्टुअर्ट मिल, उपयोगितावाद, अनुवाद–उमराव सिंह कारुणिक, मेरठः ज्ञानप्रकाश मन्दिर, 1924, पृ. 37.
4. द्रष्टव्य– वही, पृ. 37–46.
5. "उपयोगितावाद का आदर्श यह है कि सबको मिलाकर सब से अधिक आनन्द मिले।" वही, पृ. 37.
6. "...कोई विचार तभी तक 'सत्य' है जब तक कि उसमें विश्वास हमारे जीवन के लिए लाभदायक है।" विलियम जेम्स, प्रयोजनवाद, अनुवाद– रमेशचन्द्र, जयपुर : राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी, 1972, पृ. 43.
7. जॉन ब्रूम उपयोगिता के मुख्यतः निम्नलिखित सन्दर्भों को लेते हैं, वस्तु द्वारा लाभ या शुभ उत्पन्न करने की प्रवृत्ति (उपयोग–क्षमता), वस्तु के द्वारा उत्पन्न लाभ या शुभ या भलाई, और तीसरा व्यक्ति की वरीयताएं। जॉन ब्रूम इस तीसरे मत के अधिवक्ता हैं। ये तीनों ही मत अपने मूल में लाभ–हानि के प्रदर्श को रखते हैं। *("But after Jevon's time, the meaning of 'utility' in economics shifted. The word came to refer not to the tendency of an object to produce good, but to the good an object produces." John Broome, Ethics out of Economics, Cambridge : Cambridge University Press, 2004, p. 19. "...utility is that which represents a person's preferences." ibid. p. 21)*
8. *Cf. ibid. p. 28.*
9. "अक्सर हम वस्तुओं और वस्तु–व्यवस्थाओं को बदलते हैं, लेकिन धीरे–धीरे यही बदली हुई वस्तुएँ और वस्तु–व्यवस्थाएँ हमें बदल देती हैं।" अम्बिकादत्त शर्मा एवं विश्वनाथ मिश्र, हन्ना आरेंट : हिंसा का उत्खनन, जयपुर : प्राकृत भारती, 2021, पृ. 23.
10. कृष्ण कुमार, चूड़ी बाजार में लड़की, दिल्ली : राजकमल प्रकाशन, 2019.

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

11. यह उदाहरण प्रस्तुत करना कम–से–कम मेरे लिए एक जोखिम वाला काम है, क्योंकि लोकतंत्र की उपयोगिता के तर्कों के बारे में मेरी समझ आदिम अवस्था में ही है। और इस उदाहरण की चर्चा सम्भव है, आलेख में आपके धैर्य को चुकता कर सकती है, फिर भी आप पाठक मेरे तर्कों को इस उदाहरण की दृष्टि से न देखकर, तर्कों की दृष्टि से उदाहरण को देखेंगे। इससे अधिक सटीक उदाहरण, जाति–व्यवस्था, या स्त्री–पुरुष सम्बन्ध की सामाजिक संरचना हो सकते हैं और यह सटीकता सम्भवतः इस कारण भी है कि इनके बारे में हमारे पास व्यवस्थित अध्ययन और वैचारिक समझ उपलब्ध है।
12. जॉन स्टुअर्ट मिल, उपयोगितावाद, अनुवाद– उमराव सिंह कारुणिक, मेरठ : ज्ञानप्रकाश मन्दिर, 1924, पृ. 58.
13. द्रष्टव्य– मोहनदास क. गांधी, हिन्द स्वराज, अनुवाद– अमृतलाल, अहमदाबाद : नवजीवन प्रकाशन मंदिर, 1949, पहली आवृत्ति, अध्याय– "शस्त्र–बल"।
14. भारतीय चिन्तक अम्बिकादत्त शर्मा एवं विश्वनाथ मिश्र कुछ इसी तरह के मन्तव्य को व्यक्त करते हुए लिखते हैं, "...प्रत्यङ्मुखी में प्रकट होने वाले अपने स्वरूप और मानवता के आदर्श को भूलकर पराङ्मुखी चेतना के द्वैत में मानवता की नियति को तलाशने का साभ्यतिक भ्रम है।" अम्बिकादत्त शर्मा एवं विश्वनाथ मिश्र, हन्ना आरेंट : हिंसा का उत्खनन, जयपुर : प्राकृत भारती, 2021, पृ. 181.

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

परार्थानुमान का बौद्ध प्रयोजन और उसकी हेतुकेन्द्रित निष्ठा

अम्बिकादत्त शर्मा

भारतीय प्रमाणमीमांसीय चिन्तन में जैसे प्रत्यक्ष को बलवत्तर ही नहीं अपितु उपजीव्य प्रमाण माना जाता है वैसे ही परोक्ष प्रमाणों में अनुमान को ज्येष्ठ प्रमाण का दर्जा दिया गया है। अनुमान की ज्येष्ठता केवल इसलिए नहीं कि वह हमारे व्यवहार के परोक्ष संज्ञान–क्षेत्र को अन्य प्रमाणों की अपेक्षा व्यापक तौर पर अवाप्त करता है बल्कि इसलिए भी कि वह परोक्ष ज्ञान के अन्य साधनों का उपकारक भी है। सम्भवतः बौद्ध नैयायिकों ने इसीलिए परोक्ष–ज्ञान के अन्य साधनों का येन–केन प्रकार से अनुमान में अन्तर्भाव कर देना उचित समझा है। इतना ही नहीं, बौद्ध न्याय की प्रमाणमीमांसीय योजना में तो सकल सविकल्पक ज्ञान को ही अनुमान के क्षेत्र में समाहित कर लिया गया है। साधारण तौर पर अनुमान को स्वार्थ एवं परार्थ नामक दो प्रकारों में विभाजित किया जाता है। स्वार्थ रूप तो सभी प्रमाणों का होता है लेकिन परार्थ रूप केवल अनुमान का ही होता है। यह भी अनुमान के संज्ञान–क्षेत्र को एक नये आयाम में विस्तारित कर देता है। यद्यपि पूर्ववत्, शेषवत् और सामान्यतोदृष्ट जैसे तीन प्रकारों में अनुमान को विभाजित करने की एक प्राचीन परम्परा रही तथापि दिङ्नाग को ही इसका श्रेय दिया जाना चाहिए कि उन्होंने पहली बार अनुमान के स्वार्थ और परार्थ विभाग को प्रस्तावित किया और तदुपरान्त भारतीय प्रमाण–चिन्तन में उसे सर्वस्वीकार्यता प्राप्त हुई। इसमें कोई दो राय नहीं कि अनुमान के स्वार्थ और परार्थ में विभाजित किये जाने का अपना ही प्रमाणमीमांसीय महत्त्व है। परन्तु इसके पीछे दिङ्नाग की एक मूलगामी दृष्टि भी रही प्रतीत होती है। वह यह कि स्वयं बुद्ध में इस बात का आग्रह नहीं है कि उनके वचनों को शब्द प्रमाण के रूप में स्वीकार किया जाये।[1] इसलिए बौद्ध परम्परा बुद्ध वचनों को शब्द प्रमाण

उन्मीलन – वर्ष 36, अंक 1, जनवरी–जून 2022
ISSN-0974-0053
U.G.C. Care List : Arts & Humanities, SI.No. 310

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

की कोटि में रखने के लिए कथमपि तैयार नहीं है। उसे तैयार होना भी नहीं चाहिए। तब बुद्ध वचनों को और उससे होने वाले ज्ञान को प्रमाणमीमांसीय दृष्टि से किस कोटि में रखा जाय! वस्तुतः बुद्ध वचनों को परार्थानुमानोत्पादक वचन कहा जा सकता है, क्योंकि वे आज्ञात्मक वचन के रूप में नहीं बल्कि हेतुवचन अथवा सयुक्तिक वचन के रूप में उपदिष्ट हुए हैं। अतः बुद्ध वचनों का ग्रहण, अर्थात् उससे होने वाला ज्ञान, परार्थानुमान रूप से होता है। धर्मकीर्ति ने प्रमाणवार्तिक[2] के प्रथम परिच्छेद के अन्त में कुछ इस प्रकार की चर्चा की है लेकिन प्रज्ञाकरगुप्त ने प्रमाणवार्तिकालंकार भाष्य में इसका स्पष्ट संकेत करते हुए कहा है कि बौद्धागम आज्ञामात्र नहीं अपितु परार्थानुमान रूप है – ततः प्रथमं विमर्शः पुनरागमे तस्यार्थस्य दर्शनम्। परार्थानुमानरूपके नाज्ञामात्रके।[3] वास्तव में देखा जाय तो बौद्धागम (बौद्ध वचनों का संगायन) की यह अत्युच्च विशिष्टता है कि उनका संग्रहण सयुक्तिक और हेतुवचन के रूप में किया गया है। अन्य आगमों से उसकी यही विशिष्टता है कि उसका स्वरूप आज्ञात्मक नहीं। इसीलिए वह सर्वज्ञप्रोक्त होते हुए भी शब्द प्रमाण नहीं अपितु परार्थानुमानोत्पादक है। अतएव दिङ्नाग द्वारा अनुमान के स्वार्थ और परार्थ में विभाजन की प्रमाणमीमांसीय दृष्टि को बुद्ध वचनों को शब्द प्रमाण की कोटि से मुक्त रखने की अवधारणात्मक योजना के रूप में भी समझा जाना चाहिए। यहाँ कोई आशंका कर सकता है कि स्वार्थानुमान का परार्थीकरण ही परार्थानुमान हुआ करता है, तब क्या बुद्ध के ज्ञान साक्षात्कारी न हो कर स्वार्थानुमान रूप हैं! इस आशंका का समाधान करते हुए कहा जा सकता है कि बुद्ध को साक्षात्कारी ज्ञान होना सुतरां प्रसिद्ध है लेकिन वह स्वरूपतः निर्विकल्पक ही हुआ करता है। निर्विकल्पक जब भाषा में अभिलाप्य होकर सविकल्पक बोध में अवतरित होता है तो बौद्धों की प्रमाणमीमांसीय योजना में वह अनुमति का क्षेत्र है। पुनः स्वार्थनुमान का परार्थानुमान का पूर्वभावी होना कोई नियम नहीं है। परार्थानुमान के निमित्त केवल सयुक्तिक अथवा हेतुवचन ही होते हैं।

I

स्वार्थानुमान और परार्थानुमान दोनों ही अनुमान हैं, फिर भी बौद्ध नैयायिकों ने दोनों के स्वरूप में अन्तर करते हुए पहले को ज्ञानात्मक और दूसरे को शब्दात्मक कहा है।[4] यहाँ ज्ञानात्मक और शब्दात्मक विशेषण को

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

निर्विकल्पक और सविकल्पक अथवा अनभिलाप्य और अभिलाप्य के अर्थ में नहीं बल्कि 'अपने लिए' और 'दूसरे के लिए' के अर्थ में ग्रहण करना चाहिए। पर्वत् पर धूआँ उठता देखकर मन ही मन जब हमें 'पर्वतोवह्निमान्' होने का ज्ञान होता है तो उसे ही स्वार्थानुमान कहते हैं। परन्तु जब हम स्वयं को अधिगत हुए 'पर्वतोवह्निमान्' नामक ज्ञान से दूसरे को अवगत अथवा दूसरे को भी उपलब्ध कराना चाहते हैं और उसके लिए विशेष उपक्रम (न्यायवाक्यों का प्रयोग) करते हैं तो उसे ही परार्थानुमान कहा जाता है। वास्तव में शब्द का प्रयोग, या कि भाषा–व्यवहार, ही वह माध्यम है जिसके द्वारा हम अपने ज्ञान को दूसरों के लिए परोस सकते हैं। परार्थानुमान को इसी आशय से शब्दात्मक कहा जाता है। अब यहाँ प्रसंगवश एक प्रश्न उठता है कि यदि भाषा–व्यवहार या शब्दन–व्यापार ही वह माध्यम है जिसके द्वारा स्वयं को अधिगत हुए ज्ञान को दूसरों को भी उपलब्ध कराया जा सकता है तो अनुमान की तरह प्रत्यक्षादि प्रमाणों का विभाजन भी स्वार्थ और परार्थ में किया जाना चाहिए! प्रत्यक्ष के भी 'स्वार्थ–प्रत्यक्ष' और 'परार्थ–प्रत्यक्ष' दो प्रकार हो सकते हैं। उदाहरण के लिए हम सामने हाथी के बच्चे को दौड़ते हुए देखते हैं; यह हमारा स्वार्थ–प्रत्यक्ष है। परन्तु इस स्वार्थ–प्रत्यक्ष को जब हम 'एष कलभोधावति' कहते हुए अंगुली निर्देश पूर्वक दूसरे को अवगत कराते हैं तो इसे 'परार्थ–प्रत्यक्ष' क्यों नहीं कहा जाना चाहिए? दुर्वेक मिश्र[5] ने धर्मोत्तर प्रदीप में इस प्रश्न को उठाया है। उनका मानना है कि हेतु की पक्षधर्मता, हेतु और साध्य में व्याप्ति का निदर्शन करने वाले वाक्य जिस तरह परार्थानुमानोत्पादक होते हैं वैसे ही 'एष कलभोधावति' कथन को परार्थप्रत्यक्षोत्पादक नहीं कहा जा सकता; क्योंकि इस कथन में इन्द्रिय और आलोकादि सहकारी कारण–सामग्री का आख्यान सम्मिलित नहीं है जो प्रत्यक्षोत्पादक हुआ करते हैं। अधिक से अधिक 'एष कलभोधावति' का आख्यान दूसरों में दिदृक्षा उत्पन्न करता है या फिर अभिमुखीकरण का निमित्त होता है। इस तरह कहा जा सकता है कि भारतीय प्रमाण–चिन्तन में अनुमानेतर प्रत्यक्षादि प्रमाणों का स्वार्थ और परार्थ में विभाजित करने की प्रसिद्धि नहीं रही है। केवल अनुमान का ही सर्वतंत्र स्वतंत्र रूप से स्वार्थ और परार्थ में विभाग किया जाना मान्य है। यह बात अलग है कि इस प्रश्न को न तो विवेचित रूप से उठाया गया और न ही इसके प्रमाणामीमांसीय सम्भावनाओं की तलाश ही की गई है।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

वस्तुतः अनुमानेतर प्रत्यक्षादि प्रमाणों का स्वार्थ और परार्थ में विभाजन की सम्भावना और उसके सम्भावित निहितार्थों पर खुले तौर पर विचार नहीं किया जाना भारतीय प्रमाणमीमांसीय–चिन्तन की अनजाने में हुई कोई भूल–चूक नहीं है, अपितु एक सुविचारित बात है। इसके खुलासे से अनुमान प्रमाण की ज्ञानमीमांसीय विशिष्टता और उस विशिष्टता के माध्यम से भारतीय प्रमाणशास्त्र के तर्कशास्त्रीय प्रस्थान को भी रेखांकित किया जा सकता है। द्रष्टव्य है कि किसी भी प्रमाण से स्वयं को अधिगत हुए ज्ञान का परार्थीकरण करने के लिए, अर्थात् शब्दन–व्यापार के द्वारा दूसरों को उससे अवगत कराने के लिए या तो प्रमाण के फल–पक्ष (Resultant aspect of knowledge) को अथवा करण पक्ष (Casual aspects of knowledge) को ही परोसा जा सकता है। इसके अतिरिक्त कोई दूसरा रास्ता नहीं। अब अनुमानेतर प्रत्यक्षादि प्रमाणों का स्वभाव और स्थिति ही ऐसी है कि उनका परार्थीकरण करते हुए हम तत्तद् प्रमाणों के फल–पक्ष को ही दूसरों को उपलब्ध करा सकते हैं या दूसरों को परोस सकते हैं। उनके करण–पक्ष को न तो दूसरों के समक्ष परोसा जा सकता है और न ही संक्रान्त किया जा सकता है। परन्तु इस प्रसंग में देखने लायक बात यह है कि जब हम किसी प्रमाण से अधिगत ज्ञान के फल–पक्ष का आख्यान करते हुए दूसरे के समक्ष उसे परोसते हैं तो वह दूसरे के लिए शाब्दबोध का विषय बन जाता है और इस तरह वह दूसरे के लिए मानो शब्द प्रमाण बन जाता है। हमने सिंह के बच्चे को सामने दौड़ते हुए देखा और 'एष श्रावको धावति' कहते हुए जब हम स्वार्थ–प्रत्यक्ष को परार्थ बनाते हैं तो वह सुनने वाले व्यक्ति के लिए परार्थ–प्रत्यक्ष नहीं होता बल्कि कुछ एक परिस्थितियों में वह दिदृक्षा अथवा अभिमुखीकरण का निमित्त होता है; परन्तु जहाँ दिदृक्षा के अनुकूल परिस्थति नहीं है वहाँ शाब्दबोध के माध्यम से 'एष श्रावकोधावति' में अवगति होती है। अतः अनुमानेतर प्रत्यक्षादि प्रमाणों का परार्थीकरण यदि उनके करण–पक्ष को दूसरों को परोस कर किया जाना सम्भव होता तभी उन प्रमाणों का स्वार्थ और परार्थ में विभाग सार्थक हो सकता था। परन्तु अनुमान का स्वरूप और उसकी परिस्थिति ऐसी नहीं। हम अपने स्वार्थानुमान का परार्थीकरण करते हुए स्वार्थानुमान रूप प्रमिति के करण–पक्ष को ही दूसरे की चेतना में संक्रन्त कर देते हैं। प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन इत्यादि न्यायवाक्यों के समूह द्वारा जब स्वार्थानुमान

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

का अधिवचन किया जाता है तो इस प्रक्रिया के द्वारा प्रमिति की कारण–सामग्री ही दूसरे को परोस दी जाती है या उसकी चेतना में संक्रान्त हो जाती है। ऐसी सुविधा शायद अनुमानेतर प्रमाणों के साथ उपलब्ध नहीं। यही कारण है कि परार्थानुमानरूप से उत्पन्न हुआ ज्ञान न तो उधार लिया हुआ और न ही शाब्दबोध मात्र से जन्य ज्ञान होता है बल्कि अनुमाता की चेतना में उत्पन्न एक स्वतंत्र प्रमिति होती है। अनुमान की यही वह विशिष्टता है जिसके चलते वह परार्थ होकर भी अनुमान ही बना रहता है, जबकि अनुमानेतर प्रमाणों का जब परार्थीकरण किया जाता है तो वे सभी एक तरह से शब्द प्रमाण में रूपान्तरित होकर रह जाते हैं। इस प्रसंग में शब्द प्रमाण पर ऐसी टिप्पणी करना अनुचित नहीं होगा कि पौरूषेय शब्द प्रमाण अपने आप में कुछ नहीं बल्कि प्रत्यक्षादि प्रमाणजन्य प्रमाण–फल का आप्त अधिवचन पूर्वक परार्थीकरण है। पौरूषेय शब्द प्रमाण को इस रूप में समझे जाने पर किसी भी प्रमाणमीमांसा में शब्द को एक अतिरिक्त प्रमाण मानने की बाध्यता प्रसक्त होती है। शब्द प्रमाण मानने की यह अभ्युक्ति चार्वाक और वैशेषिकों के लिए भले कठिनाई उत्पन्न करने वाली हो लेकिन बौद्धों की प्रमाणमीमांसीय योजना में इस कठिनाई के लिए अवकाश नहीं है। वह इसलिए कि एक ओर बौद्धों का प्रत्यक्ष नितान्त निर्विकल्प हुआ करता है और इस कारण निर्विकल्पकत्वेन् उसका परार्थीकरण सम्भव नहीं तो दूसरी ओर बौद्ध नैयायिक सफलता पूर्वक प्रत्यक्षपृष्ठभावी सभी प्रकार के ज्ञानों का अन्तर्भाव अनुमान में कर देते हैं।

II

अनुमान का जब परार्थीकरण किया जाता है तब हम उसकी कारण–सामग्री का अधिवचन न्यायवाक्यों के रूप में करते हैं। न्यायवाक्यों की संख्या को लेकर विवाद हो सकता है और अपनी सुविधानुसार उनकी संख्या का विस्तार और संकोच दोनों संभव है। परन्तु यह तो निर्विवाद है कि प्रत्येक न्यायवाक्य अपने आप में एक 'स्पीच फार्म' होते हैं और उनमें एक आवश्यक अन्तर्सम्बन्ध होता है। इसीलिए वे समुदाय रूप से परार्थानुमान रूप प्रमिति के जनक हुआ करते हैं। अतः इसे तर्कशास्त्रीय प्रक्रिया से निगमित होने वाला ज्ञान कहा जा सकता है, क्योंकि मूलगामी रूप से तर्कशास्त्र ज्ञान की एक विधा के रूप में 'साइन्स ऑफ स्पीच फार्म्स' ही है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि भारतीय प्रमाणमीमांसीय चिन्तन का

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

तर्कशास्त्रीय प्रस्थान परार्थानुमान से ही प्रारम्भ होता है। परन्तु इस तर्कशास्त्रीय प्रस्थान के साथ एक ज्ञानमीमांसीय नैतिक दायित्व की संकल्पना भी जुड़ी हुई है। वह यह कि जिस प्रकार प्रत्यक्षादि प्रमाणजन्य प्रमाण–फल के परार्थीकरण की नैतिक शर्त आप्तता (यथाभूत उपदेष्टा) है उसी प्रकार स्वार्थानुमानजन्य प्रमिति के परार्थीकरण, अर्थात् उसकी कारण–सामग्री को न्यायवाक्यों के माध्यम से दूसरे में संक्रान्त करने की नैतिक शर्त न्यायवाक्यों की निर्दुष्टता है और स्वयं न्यायवाक्यों की निर्दुष्टता की पूर्वशर्त स्वार्थानुमान की वैधता है। सम्भवतः इसीलिए भारतीय प्रमाणशास्त्रीय चिन्तन के इतिहास में सामान्य रूप से अनुमान की प्रक्रिया और विशेष रूप से परार्थानुमान के न्यायवाक्यों की निर्दुष्टता और सम्यकता को साधने का आदर्श उपक्रम किया गया है। भारतीय प्रमाणशास्त्र का शायद ही कोई ऐसा अन्य प्रकरण हो जिसकी सम्यकता और निर्दुष्टता को बनाए रखने के लिए ऐसी उत्कट ज्ञानमीमांसीय निष्ठा बरती गई हो।

गौतमीय न्याय और बौद्ध–न्याय इन दोनों ही परम्पराओं में परार्थानुमान के पीछे की ज्ञानमीमांसीय नैतिक निष्ठा को बखुबी निभाया गया है। नैयायिकों ने इसके लिए व्याप्ति की अवधारणा और बौद्ध नैयायिकों ने हेतु की अवधारणा को केन्द्र में रखा है। चूँकि नैयायिकों का अनुमिति–विमर्श व्याप्ति–केन्द्रित रहा है, इसीलिए न्याय परम्परा में 'व्याप्ति–पंचक' जैसे ग्रंथ लिखे गये और बहिर्व्याप्ति का समर्थन किया गया। इतना ही नहीं, न्याय परम्परा में हेत्वाभास पर तो खूब विचार और परिष्कार हुआ लेकिन पक्षाभास और दृष्टान्ताभास पर विचार करने की आवश्यकता महसूस नहीं की गई। इसका कारण भी अनुमान के प्रति व्याप्ति–केन्द्रित दृष्टिकोण ही रहा है। साथ ही साथ अनुमान के व्याप्ति–केन्द्रित होने के चलते ही न्याय परम्परा में अनुमान का विषय वह्नि सामान्य होता है। इसके ठीक विपरीत बौद्ध न्याय परम्परा में आद्यन्त रूप से हेतु–केन्द्रित अनुमान विमर्श को पोषित और पल्लवित किया गया है। यही कारण है कि सिद्ध हेतु की पहचान के लिए बौद्ध न्याय परम्परा में 'हेतुचक्र डमरू' और 'हेतु बिन्दु' जैसे ग्रन्थ लिखे गये और अन्तर्व्याप्ति का समर्थन किया गया। साथ ही साथ पक्षाभास, हेत्वाभास और दृष्टान्ताभास को पहचानने के भरपूर प्रयास हुए हैं।[6] पर्वत पर वह्नि विशिष्ट को अनुमान का विषय माना जाना भी बौद्ध न्याय में अनुमान की व्याप्ति केन्द्रितता के बदले हेतु केन्द्रितता को ही दर्शाता है।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

वस्तुतः भारतीय प्रमाणशास्त्र में अनुमान विमर्श की उपर्युक्त दो प्रमुख धाराएँ रही हैं। दोनों की अपनी–अपनी निष्ठायें और खासियतें है। इससे भारतीय प्रमाण चिन्तन और तर्कशास्त्रीय विचार–प्रणाली को अभूतपूर्व समृद्धि प्राप्त हुई है।

III

बौद्ध न्याय में हेतु–केन्द्रित अनुमान की अवधारणा के महत्त्वपूर्ण घटक हैं–हेतु त्रैविध्य और हेतु त्रैरूप्य। वह हेतु जो अनुमित्यात्मक परोक्ष अर्थ का साधक होता है वह या तो स्वभाव हेतु या कार्य हेतु या फिर अनुपलब्धि हेतु ही हो सकता है। यही हेतु त्रैविध्य है। इनमें से प्रत्येक हेतु के सद् हेतु होने की शर्त यह है कि उसे पक्ष में होना चाहिए, सपक्ष में भी होना चाहिए और विपक्ष में कदापि नहीं होना चाहिए। यही हेतु त्रैरूप्य है। हेतु त्रैरूप्य में किसी प्रकार के व्यतिक्रम को बौद्ध नैयायिक हेत्वाभास में परिगणित करते हैं। इसलिए हेत्वाभास की सम्भावित स्थितियों से सर्वथा मुक्त बौद्धन्याय में 'अनुमेयेऽथतत्तुल्ये सद्भावो नास्तिताऽसति' को दिङ्नाग प्रोक्त हेतु त्रैरूप्य का सम्यक लक्षण स्वीकार किया गया है।[7] हेतु का यह लक्षण समुदाय रूप में अत्यन्त सन्तुलित लक्षण है। दुर्वेक मिश्र[8] ने यह सूचित किया है कि बौद्धाचार्यों ने हेतु के इस लक्षण को लक्षणगत एक पद पर्युदास और द्विपद पर्युदास विधि से षड्विध विकल्पों का परिहार करके सप्तम विकल्प का परिग्रहण किया है। उद्योतकर[9] के न्यायवार्त्तिक में इस पद्धति का सन्दर्भ 'हेतु वार्त्तिक' के रूप में प्राप्त होता है। दिङ्नागोक्त इस लक्षण में एक–एक और दो–दो पदों को हटाने से किस प्रकार सप्तिका हेतु–लक्षण का ग्रहण होता है, इसे वाचस्पिति मिश्र[10] ने बहुत सुन्दर तरीके से उदाहरण सहित बताया है। उनके अनुसार समुदाय रूप से इस लक्षण में तीन पद प्रयुक्त हुए हैं। तीनों पदों में एक–एक पद हटाने पर तीन पक्ष और दो–दो पद हटाने पर पुनः तीन पक्ष बनते हैं। इन छः पक्षों में जो त्रैरूप्य हेतु की व्यतिक्रमात्मक षड्विध स्थितियाँ ही हैं; उनको हटाने पर बौद्ध सम्मत हेतु का सातवाँ 'सिद्धान्त लक्षण' प्रकट होता है। लक्षणगत एकपद–पर्युदास और द्विपद–पर्युदास से किस प्रकार षड्विध स्थितियाँ बनती हैं और उनका परिहार कर लक्षणगत तीनों पदों को समुदाय रूप से ग्रहण करने पर हेतु की सातवीं स्थिति किस प्रकार हेतु त्रैरूप्य के सम्यक स्वरूप को प्रकट करता है उसका निदर्शन निम्नलिखित रूप में किया जा सकता है :

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

(1) यदि द्विपद पर्युदास करते हुए 'अनुमेये सभ्‌दावः' इतना मात्र कहा जाये तो सपक्ष में अविद्यमान और विपक्ष में विद्यमान धर्म को हेतु कहा जायेगा। यथा–शब्द नित्य है, कार्य होने से।

(2) यदि द्विपद पर्युदास करते हुए "तत्तुल्ये सभ्‌दावः" इतना मात्र कहा जाये तो विपक्ष में विद्यमान और पक्ष में अविद्यमान भी हेतु हो जायेगा। यथा–शब्द नित्य है, चक्षु का विषय होने से, सामान्य के समान।

(3) यदि द्विपद पर्युदास करते हुए 'नास्तिाऽसति' इतना मात्र कहा जाय तो पक्ष में अविद्यमान और सपक्ष में भी अविद्यमान धर्म हेतु हो जायेगा। यथा– शब्द नित्य है, असत्त्व होने से।

(4) यदि एकपद पर्युदास करते हुए 'अनुमेयेऽथ तत्तुल्ये' इतना मात्र कहा जाय तो विपक्ष में विद्यमान धर्म भी हेतु कहा जायेगा। यथा–शब्द अनित्य है, प्रमेय होने से।

(5) यदि एकपद पर्युदास करते हुए 'अनुमेयेऽथ नास्तितांऽसति' इतना मात्र कहा जाय तो सपक्ष में अविद्यमान भी हेतु हो जायेगा। यथा–शब्द नित्य है, जातिमान होकर श्रावण्य होने से।

(6) यदि एकपद पर्युदास करते हुए 'तत्तुल्ये नास्तिताऽसति' इतना मात्र कहा जाय तो पक्ष में अविद्यमान भी हेतु कहा जायेगा। यथा–परमाणु अनित्य है, कार्य होने से।

(7) यदि लक्षणगत तीनों पदों का समुदाय रूप से ग्रहण करते हुए 'अनुमेयेऽथतत्तुल्ये सद्‌भावो नास्तिताऽसति' कहा जाए तो पक्ष में विद्यमान, सपक्ष में विद्यमान और विपक्ष में अविद्यमान रहने वाला धर्म ही सम्यक हेतु कहा जायेगा। यथा – शब्द अनित्य है, कृतक होने से, घट के समान।

इस प्रकार हेतु त्रैरूप्य का हेतु सप्तक में विन्यास कर षड्‌विध व्यतिक्रमात्मक अनिष्ट स्थितियों का परिहार करते हुए सातवीं स्थिति का परिग्रहण कर बौद्ध न्याय में हेतु त्रैरूप्य के 'सिद्धान्त लक्षण को उद्‌घाटित किया गया है। हेतु सप्तक की यह प्रविधि बौद्ध न्याय परम्परा में अवश्य ही प्रचलित रही होगी, क्योंकि दुर्वेक मिश्र ने धर्मोत्तर प्रदीप में इसका संकेत तो किया; परन्तु इसकी कोई स्पष्ट रूपरेखा उन्होंने प्रस्तुत नहीं की है। भला हो वाचस्पति मिश्र का कि न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका में उन्होंने बौद्ध न्याय की इस विलक्षण प्रविधि को विवेचित रूप में प्रस्तुत कर उसे संरक्षित रख लिया है।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

IV

बौद्ध न्याय में हेतुकेन्द्रित अनुमान–निष्ठा का एक प्रगत विन्यास हमें दिङ्नाग के हेतुचक्र डमरू (अपर नाम – हेतुचक्र निर्णय) में देखने को मिलता है, जहाँ हेतु त्रैरूप्य को सम्भावित नवधा स्थितियों में परिगणित कर सद्हेतु और हेत्वाभासों को पहचानने की एक दूसरी विलक्षण पद्धति विकसित की गई है। यह दिङ्नाग की एक लघुकृति है जो अपने मूल स्वरूप संस्कृत में अबतक उपलब्ध नहीं हो पायी है। धर्मकीर्ति ने पक्षधर्म (हेतु) का प्रभेदीकरण करते हुए हेतु प्रकरण को आसानी से समझने वाली पद्धति के रूप में इसका संकेत किया है।[11] तिब्बती भाषा में इसका अनूदित रूप सुरक्षित है और उसके आधार पर इसकी संस्कृत पुनर्रचना (दुर्गाचरण चटर्जी) तथा अंग्रेजी अनुवाद (सतीशचन्द्र विद्याभूषण एवं आर.एस.वाई.ची.) किंचित् पाठभेद के साथ उपलब्ध है। कुछ अन्य भारतीय एवं पाश्चात्य विद्वानों ने भी हेतुचक्र डमरू पर अंग्रेजी में लेखन किया है और दिङ्नाग के पक्षधर्म प्रभेदीकरण को अरस्तू की तर्कशास्त्रीय प्रणाली, प्रेडिकेट लॉजिक और क्लास कैलकुलस के आलोक में समझने का प्रयास किया है। भारतीय प्रमाणशास्त्र के आकार साहित्य में सम्पूर्ण तो नहीं, परन्तु सार–संक्षेप रूप में हेतुचक्र निर्णय की प्रविधि और उसका विन्यास वाचस्पति मिश्र की न्यायवार्तिक तात्पर्य टीका में सुरक्षित किया गया है।[12] वह इस प्रकार है :

वह हेतु जो पक्ष का धर्म है उसकी सपक्ष में विद्यमानता, अविद्यमानता और द्वेधाभाव (सपक्ष के एक देश में होना और सपक्ष के ही दूसरे देश में नहीं होना) नामक तीन स्थितियाँ हो सकती हैं। पुनः वही हेतु जो पक्ष का धर्म है उसकी भी विपक्ष में विद्यमानता, अविद्यमानता और द्वेधाभाव नामक तीन स्थितियाँ हो सकती हैं। अब पक्षधर्म रूप हेतु की सपक्ष में जो तीन स्थितियाँ हैं उनमें प्रत्येक का विपक्ष में हेतु की तीनों स्थितियों के साथ अलग–अलग योग करने पर प्रत्येक की तीन–तीन अर्थात् कुल नौ स्थितियाँ बनती हैं। उदाहरण के लिए – सपक्ष में विद्यमान पक्षधर्म रूप हेतु– विपक्ष में विद्यमान रहता है (1), अविद्यमान रहता है (2), द्वेधाभाव से रहता है (3)। पुनः सपक्ष में अविद्यमान पक्षधर्म रूप हेतु – विपक्ष में विद्यमान रहता है (4), अविद्यमान रहता है (5), द्वेधाभाव से रहता है (6)। ऐसे ही सपक्ष में द्वेधाभाव से रहने वाला पक्षधर्म रूप हेतु – विपक्ष में विद्यमान रहता है (7), अविद्यमान रहता है (8), द्वेधाभाव से रहता है (9)। दिङ्नाग ने हेतुचक्र डमरू

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

में हेतु त्रैरूप्य का विन्यास इन्हीं नवधा स्थितियों में दिखाया है और प्रत्येक स्थितियों के अलग–अलग हेतु, साध्य और दृष्टान्त (वाचस्पति मिश्र के प्रस्तुतीकरण में दृष्टान्त नहीं है) के आधार अनुमान फलन को प्रदर्शित किया है। वह इस प्रकार है :

1. वह पक्षधर्म जो सपक्ष में विद्यमान रहता है और विपक्ष में भी विद्यमान रहता है – यथा शब्द नित्य है, प्रमेय होने से, आकाश (सपक्ष) और घट (विपक्ष) के समान। 2. वह पक्षधर्म जो सपक्ष में विद्यमान रहता है लेकिन विपक्ष में अविद्यमान होता है – यथा शब्द अनित्य है, कृतक होने से, घट (सपक्ष) और आकाश (विपक्ष) के समान। 3. वह पक्षधर्म जो सपक्ष में विद्यमान रहता है और विपक्ष में द्वेधाभाव से रहता है – यथा शब्द प्रयत्न से उत्पन्न होता है, अनित्य होने से, घट (सपक्ष) और विद्युत एवं आकाश (विपक्ष) के समान। 4. वह पक्षधर्म जो सपक्ष में अविद्यमान रहता है लेकिन विपक्ष में विद्यमान होता है – यथा शब्द शाश्वत है, कृतक होने से, आकाश (सपक्ष) और घट (विपक्ष) के समान। 5. वह पक्षधर्म जो सपक्ष में अविद्यमान रहता है और विपक्ष में भी अविद्यमान होता है – यथा शब्द शाश्वत है, श्रावण्य होने से, आकाश (सपक्ष) और घट (विपक्ष) के समान।[13] 6. वह पक्षधर्म जो सपक्ष में अविद्यमान रहता है और विपक्ष में द्वेधाभाव से रहता है – यथा शब्द शाश्वत है, यत्नज होने से, आकाश (सपक्ष) और घट एवं विद्युत (विपक्ष) के समान। 7. वह पक्षधर्म जो सपक्ष में द्वेधाभाव से रहता है और विपक्ष में विद्यमान होता है – यथा शब्द अयत्नज है, अनित्य होने से, विद्युत एवं आकाश (सपक्ष) और घट (विपक्ष) के समान। 8. वह पक्षधर्म जो सपक्ष में द्वेधाभाव से रहता है और विपक्ष में अविद्यमान होता है – यथा शब्द अनित्य है, यत्नज होने से, घट एवं विद्युत (सपक्ष) और आकाश (विपक्ष) के समान। 9. वह पक्षधर्म जो सपक्ष में द्वेधाभाव से रहता है और विपक्ष में भी द्वेधाभाव से रहता है – यथा शब्द नित्य है, अस्पर्शवान् होने से, आकाश एवं परमाणु (सपक्ष) और कर्म (विपक्ष) के समान।[14]

द्रष्टव्य है कि हेतु त्रैरूप्य के उपर्युक्त नवधा विन्यासों में केवल दूसरी एवं आठवीं स्थिति ही हेतु त्रैरूप्य की शर्तों को पूरा करने वाली स्थितियाँ हैं। अतः वही दोनों सद्हेतु हैं। चौथी और छठी स्थिति विरुद्ध नामक हेत्वाभास के उदाहरण हैं। शेष पाँच स्थितियों को अनिश्चित अथवा संदिग्ध हेत्वाभास के अन्तर्गत परिगणित किया गया है।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

V

इस प्रकार संक्षिप्त रूप में सही लेकिन उपर्युक्त विवेचना से यह बात समझी जा सकती है कि बौद्ध न्याय में अनुमान का स्वार्थ और परार्थ नामक दो प्रकारों में विभाजित किये जाने के पीछे दिङ्नाग की एक अन्तर्निहित ज्ञानमीमांसीय योजना सक्रिय रूप से कार्य कर रही थी। वह यह कि बुद्ध वचनों को शब्द प्रमाण मानने की बाध्यता से किस प्रकार मुक्त रखा जा सके और आसानी से उनका अन्तर्भाव परार्थानुमान में करते हुए यह प्रतिपादित करना सम्भव हो कि बुद्ध वचनों की प्रस्थिति और भूमिका परार्थानुमानोत्पादक कथन की है। इन्हें तैर्थिकों के वैसे आज्ञात्मक वचनों के रूप में नहीं समझा जाना चाहिए जो शब्द प्रमाण कहे जाते हैं। बौद्ध न्याय में परार्थानुमान इसी उद्देश्य की पूर्ति करने वाला ज्ञानमीमांसीय आधार प्रस्तुत करता है। इस विभाजन का एक और अवान्तर ज्ञानमीमांसीय महत्त्व यह भी है कि इसके माध्यम से स्वकीय ज्ञान के परार्थीकरण का एक नया ही आयाम उद्घाटित होता है। दूसरे शब्दों में शब्दप्रमाणमुक्त ज्ञान के परार्थीकरण की ज्ञानमीमांसा परार्थानुमान के द्वारा ही प्रस्तुत होती है। परार्थानुमान की इस ज्ञानमीमांसा का दिङ्नागोत्तर विकास दो समानान्तर धाराओं में हुआ है। बौद्ध परम्परा में इसका विकास हेतुकेन्द्रित निष्ठा के साथ और न्याय परम्परा में व्याप्ति केन्द्रित निष्ठा के साथ हुआ है। इन दोनों निष्ठाओं के बलाबल की समीक्षा कर कोई मूल्यॉंकन परक वक्तव्य देने से अच्छा यह है कि इन्हें भारतीय तर्कशास्त्र की दो धाराओं के रूप में इनके निहितार्थों और निष्पत्तियों को समझा जाय। परन्तु अन्त में इतना कहना हम आवश्यक समझते हैं कि परार्थानुमान की हेतुकेन्द्रित ज्ञानमीमांसा की कोई सार्थक समरूपता अरस्तू के तर्कशास्त्र अथवा प्रेडिकेट लॉजिक या फिर क्लास कैलकुलस जैसे तर्कशास्त्रीय चिन्तन प्रणाली से बनती नहीं है। यह अपने स्वरूप में ही आकारिक तर्कशास्त्र और उसके तार्किक फलन के आलोक में स्वयं को समझे जाने का निषेध करती है।

आचार्य एवं अध्यक्ष
दर्शनशास्त्र विभाग
डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय
सागर (म.प्र.) - 470003

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

सन्दर्भ एवं पादटिप्पणी –

1. शांतरक्षित, तत्त्वसंग्रह कारिका – 3587, तापाच्छेदाच्च निकषात् सुवर्णमिव पण्डितैः। परीक्ष्य भिक्षवोग्राह्यं मद्वचो न तु गौरवात्।
2. द्रष्टव्य, धर्मकीर्ति, प्रमाणवार्तिक, प्रमाणसिद्धि परिच्छेद – 285–287।
3. प्रज्ञाकर गुप्त, प्रमाणवार्तिकालंकारभाष्य – 1/135।
4. धर्मोत्तर, न्यायबिन्दुटीका, स्वार्थानुमान परिच्छेद – 1 – परार्थानुमान शब्दात्कम्, स्वार्थानुमानं तु ज्ञानात्मकम्।
5. धर्मोत्तर प्रदीप, दुर्वेक मिश्र (सम्पा. पं. दलसुखभाई मलवाणियाँ) के.पी. जयसवाल इन्स्टीट्यूट, पटना, पृ. 89 – ननु च परार्थानुमानोत्पादकवाक्यवदस्ति किञ्चिद् वाक्यं यत्परप्रत्यक्षोपयोगि। यथा 'एष कलभो धावति' इति वाक्यम्। अतः परार्थानुमानवत्परार्थ प्रत्यक्षं किं न व्युत्पाद्यत इति? अत्रोच्यते––परोक्षार्थप्रतिपत्तेर्या सामग्री––लिङ्ग्स्य पक्षधर्मता साध्यव्याप्तिश्च––तदाख्यानाद् वाक्यमुपचारतः परार्थानुमानमुच्यते। न तु तत्र कथञ्चिदङ्ग्भावमात्रेण, स्वास्थ्यादेरपि तथा प्रसङ्गात्। इदं पुनः 'अयं कलभः' इत्यादिवाक्यं न प्रत्यक्षोत्पत्तेर्या सामग्रीन्द्रियालोकादि तदभिधानात्तन्निमित्तं भवत्तथा व्यपदेशमश्नुते येन व्युत्पाद्यतामप्यश्नुवीत। किं तर्हि? कस्यचिद् दिदृक्षामात्रजननेन। यथा कथञ्चित्परप्रत्यक्षोत्पत्तावङ्ग्भावमात्रेण ताद्रूप्ये नेत्रोत्सवे वस्तुनि सन्निहितेऽपि कथञ्चित्पराङमुखस्य परेण यदिभिमुखीकरणं शिरसस्तदपि वचनात्मकं परार्थप्रत्यक्षं व्युत्पादयितुर्व्युत्पिाद्यमापद्येत। एतच्च कःस्वस्थात्मा मनसि निवेशयेत्। किंच भवतु तथाविधं वचनं परार्थ प्रत्यक्षम्।
6. न्यायप्रवेश, दिङ्नाग, इस ग्रंथ में पक्षाभास और दृष्टान्ताभास पर पर्याप्त विचार हुआ है।
7. अक्सर दिङ्नाग के इस लक्षण को प्रमाणसमुच्चय के द्वितीय परिच्छेद से उद्धृत किया जाता है। उद्योतकर के न्यायवार्तिक में भी इसे इसी रूप में दिङ्नागोक्त हेतु का लक्षण कहा गया है।
8. धर्मोत्तर प्रदीप, दुर्वेक मिश्र (सम्पा. पं. दलसुखभाई मलवाणियाँ) त्रिरूपालिंगादिति चाचक्षाणेनाचार्येणैकद्विपदपर्युदासेन षट्पक्षीं प्रतिक्षिप्य सप्तमपक्ष परिग्रहणे लिंगस्य लक्षणमभिप्रेतं प्रकाशितमिति। पृ0 90, के.पी. जयसवाल इन्स्टीट्यूट, पटना।
9. न्यायवार्तिक, उद्योतकर, यद्यपि हेतुवार्तिक ब्रुवाणेनोक्तम्... 'सप्तिकासम्भवे षट्प्रतिषेधादेकद्विपदपर्युदासेन त्रिलक्षणो हेतुरिति। पृ0 56, चौखम्भा संस्कृत सीरीज – 1916
10. वाचस्पिति मिश्र, न्यायवार्तिक तात्पर्य टीका, पृ0 194, कलकत्ता संस्कृत सीरीज, 1944
11. धर्मकीर्ति, प्रमाणवार्तिक, परार्थानुमान परि. 189 और उसपर मनोरथनंदी टीका।
12. वाचस्पिति मिश्र ने उसी प्रविधि का उल्लेख किया है जिस प्रविधि से दिङ्नाग ने हेतु त्रैरूप्य का नवविध स्थितियों में विन्यास किया है। मनोरथनन्दी (प्रमा.वा. परार्थानुमान

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

परि. 189) ने भी 'सपक्षेसन्नसन्द्वेधा पक्षधर्मः पुनस्त्रिधा' कहते हुए उसी का संकेत किया है। वाचस्पति मिश्र ने हेतुचक्रडमरू का सार – संक्षेप इस प्रकार प्रस्तुत किया है (न्याय वार्तिक तात्पर्य टीका पृ0 289–290) – अत्र दिङ्नागेन –

सपक्षे सन्नसन् द्वेधा पक्षधर्मः पुनस्त्रिधा।
प्रत्येकमसपक्षे च सदसद्द्विविधत्वतः'।।

इति नवपक्षधर्मान् हेतुतदाभासान् दर्शयित्वा

तत्र यः सन् सजातीये द्वेधा चासंस्तदत्यये।
स हेतुर्विपरीतोऽस्माद्विरूद्धोऽन्यत्वनिश्चितः'।

इति हेतुतदाभासविवेको दर्शितः। तस्यार्थः। यः पक्षधर्मः स सपक्षे सन्नसन् द्वेघा इति त्रिविधः, स पुनरसपक्षे सदसद्द्विविधत्वतः प्रत्येकं त्रिधा भवतीति, पक्षधर्मः सपक्षे सन् विपक्षे सद्सद्द्विविधत्वतस्त्रिधा, पक्षधर्मः सपक्षेऽसन् विपक्षे सदसद्द्विविधत्वस्त्रिधा, पक्षधर्मः सपक्षे द्वेधा विपक्षे सदसद्द्विविधत्वतस्त्रिधेति। अत्रोदाहरणां

प्रमेयकृतकानित्यकृतश्रावणयत्नजाः।
अनित्ययत्नजास्पर्शा नित्यत्वादिषु ते नव'।।

नित्यत्वादिषु साध्येषु प्रमेयत्वादयो नवहेतुतदाभासाः। तेषां यथासंख्यं नित्यत्वादीनि साध्यान्युदाहरन्ति

नित्यानित्यप्रत्नोत्थमध्यमत्रिकशाश्वताः।
अयत्नानित्यनित्याश्च प्रमेयत्वादिसाधनाः'।।

13. दुर्गाचरण चटर्जी और एस.सी. विद्याभूषण कृत पनर्रचना/अनुवाद में 'अनित्य' पाठ है, जबकि आर.एस.वाई.ची. के अनुवाद में तथा वाचस्पति मिश्र के विवरण में नित्य (शाश्वत) पाठ है।
14. दुर्गाचरण चटर्जी की पनर्रचना में 'अमूर्त' पाठ है और रैंडल तथा एस.सी विद्याभूषण ने 'स्पर्शज' पाठ रखा है। आर.एस.वाई.ची ने 'अमूर्त' पाठ रखा है और वाचस्पति मिश्र ने 'अस्पर्शज'।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

पुस्तक-समीक्षा

पाणिनी कालीन भारतवर्ष*

विश्वनाथ मिश्र

हम में से अधिकांश लोगों ने यह सुन रखा है कि प्राचीन भारत में तकनीकी समृद्धि, आर्थिक विकास और सामाजिक विन्यास उच्च कोटि का था। हाल के दशकों में महाभारत में इन्टरनेट, सीता माता का क्लोन बेबी और प्रथम पूज्य गजानन के सम्बन्ध में शल्य चिकित्सा की चर्चा भी राजनीतिक माननीयों के द्वारा की जाने लगी है। बहुधा यह कहा और सुना जाता है कि सनातन परम्परा के आर्ष ग्रंथों में जो ब्रह्मास्त्र का उल्लेख मिलता है वह परमाणु बम सदृश या उससे ही महत्तर हथियार था और उसके प्रयोग के बारे में तब के लोग वाकिफ ही नहीं थे, बल्कि उसका प्रयोग भी करते थे। तब के समय में ऐसे प्रक्षेपास्त्र निर्मित किये जाते थे जो आज के अंतरमहाद्वीपीय प्रक्षेपास्त्र की ही तरह थे। इतना ही नहीं तब के लोगों को सशरीर किसी भी ग्रह, नक्षत्र पर पहुँच जाने की कला–कौशल भी उपलब्ध थी।

ऐसे में जब सवाल किया जाता है कि अतीत की उन विद्याओं के होते हुए भी भारत का पराभव कैसे हुआ? तब आंतरिक फूट को इसका एक महत्त्वपूर्ण कारण बताया जाता है। यह भी कहा जाता है कि विद्या के केन्द्रों को समुचित राज्याश्रय न मिलने और विदेशी आक्रान्ताओं द्वारा विद्या के केन्द्रों को नष्ट कर देने के कारण वह विद्यायें लुप्त हो गयीं। यह भी उल्लेख किया जाता है कि जाति व्यवस्था ने धीरे–धीरे अनेक विधाओं को जाति विशेष तक सीमित कर दिया। विद्या के प्रति शुद्धिवादी और आत्म–गोपण विचार ने उन महान विद्याओं को सामाजिक पटल से गायब कर दिया। रही–सही कसर मुगलों और अंग्रेजों ने पूरी कर दी, जिन्होंने उन विद्याओं

उन्मीलन - वर्ष 36, अंक 1, जनवरी-जून 2022
ISSN-0974-0053
U.G.C. Care List : Arts & Humanities, Sl.No. 310

*वासुदेव शरण अग्रवाल, पाणिनी कालीन भारतवर्ष (2014), चौखम्बा, वाराणसी पृ.सं. 612, मूल्य 350 / –

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

को पुनर्जीवित नहीं किया। विशेषकर अंग्रेजों ने तो यहीं की विधाओं को चुरा लिया और उन्हें डिकोड करके आज की अपनी समृद्धि को अर्जित किया है।

यह सब बातें आज तक व्यक्तिगत प्राक्कल्पना से ऊपर उठकर सिद्धान्त का स्वरुप ग्रहण नहीं कर सकी हैं। हो सकता है कि यह सब मात्र कपोल कल्पना हों और यह भी सम्भव है कि इसमें सारवान विचार सन्निहित हों। ऐसे में हमारे लिए यह जानना महत्त्वपूर्ण हो जाता है कि जब मुगल और अंग्रेज़ भारत नहीं आये थे तब का भारतवर्ष कैसा था?

इस प्रश्न का सबसे प्रामाणिक समाधान तो पुरातात्विक एवं भाषाशास्त्रीय निर्वचनों के समावेशण से ही सम्भव है। परंतु, फिर भी एक प्रश्न यहाँ शेष रह जाता है कि हम शुरुआत कहाँ से करें। इस दिशा में यदि धर्मग्रन्थों और वेदों, उपनिषदों तक यदि पहुँचना भी हो तो हम उनकी आध्यात्मिक व्याख्याओं को डिकोड कैसे करें। उदाहरण के लिए भारतीय ज्योतिष की किताबों को पढ़ते हुए जब एक पाठक प्रश्नखंड तक पहुँचता है तब वह एक वाक्य को लेकर उलझन में पड़ जाता है। वह यह कि "अग्निं भाजय" वाक्यांश का क्या अर्थ निकाला जाये। भला आग से कोई विभाजित कैसे किया जा सकता है। जबकि, इस वाक्यांश का अर्थ होता है तीन से विभाजित करें। यहाँ तीन प्रकार की अग्नि से तीन संख्या विहित की गई है। ऐसे ही हजारों तथा गूढ़ से गूढ़तर उदाहरण भरे पड़े हैं। वस्तुतः अतीत के मूल तक हमारी पहुँच नहीं है क्योंकि हमारे पास अतीत में झाँककर देखने वाली कोई दुरबीन नहीं है। वर्तमान की दृष्टि से हम अतीत को देखने की कोशिश करें तो वर्तमान बोध, विचारधारा और सत्ता के प्रति आग्रह / दुराग्रह से हम मुक्त नहीं हो सकते हैं जो कि हमारी वर्तमान मानसिक विन्यास के सहचर ही नहीं बल्कि अनिवार्य घटक होते हैं। ऐसे में हमें बीच का रास्ता चुनना हो तो हम अतीत के भारत को वासुदेव शरण अग्रवाल कृत "पाणिनी कालीन भारतवर्ष" से शुरुआत कर सकते हैं। ऐसा प्रयास इस दृष्टि से भी समीचीन है कि मनुष्य एक अवधारणा बनाने वाला प्राणी है और अवधारणा बनाने हेतु विचारों की तथा विचारों को व्यक्त करने के लिए शब्द, वाक्य एवं भाषा की जरुरत होती है। जिन अवधारणाओं के लिए हमारे पास शब्द और भाषा ही न हो उन अवधारणाओं से जुड़े विचारों का भौतिक अस्तित्व भी नहीं है।

प्रस्तुत पुस्तक विख्यात राष्ट्रवादी विचारक वासुदेव शरण अग्रवाल का वह शोध प्रबंध है जिस पर उन्हें लखनऊ विश्वविद्यालय से 1941 में

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

डॉक्टर ऑफ़ फिलोसफी की उपाधि प्राप्त हुई थी। प्रस्तुत समीक्षा के लिए उद्धृत पुस्तक चौखम्बा विद्याभवन वाराणसी से 1969 में प्रकाशित हुई है। इसमें कुल 576 पृष्ठ हैं। तब इस पुस्तक का मूल्य चालीस रूपये मात्र थी जो आज चार सौ रूपये में उपलब्ध है। लेखक ने भूमिका में ही स्पष्ट कर दिया है कि यह कृति पाणिनी के अष्टाध्यायी का सांस्कृतिक अध्ययन है (पृष्ठ–7)। अष्टाध्यायी में लग–भग चार हजार सूत्र हैं। जिनका मुख्य उद्देश्य व्याकरण के नियमों का परिचय देना हैं और शब्दों का निर्माण किन सामाजिक परिस्थितियों के प्रभाव में हुआ है, इसका भी उल्लेख करना है। इस ग्रन्थ में ऐसे अनेक शब्दों का उल्लेख हुआ है जिनसे पाणिनी कालीन भारत के सांस्कृतिक जीवन, आर्थिक स्थिति, राजनीतिक व्यवस्था और दार्शनिक विचारों का प्रत्यक्ष चित्र प्राप्त होता है (पृष्ठ–7)।

पाणिनी के काल निर्धारण को लेकर वासुदेव शरण अग्रवाल "पाटलिपुत्र की शास्त्रकार परीक्षा" का उल्लेख करते हैं। जहाँ वे कहते हैं कि अष्टाध्यायी की रचना पूर्ण करके पाणिनी ने नन्द वंश के राजा नन्दराज के पास भेजा। यह मत राजशेखर, सोमदेव और तारानाथ के साथ–साथ ह्वेन सांग से भी समर्थित मत है (पृष्ठ–24)। इस वृतान्त के अनुसार पाणिनी का काल पाँचवी से चौथी शताब्दी ईसा पूर्व स्थित होता है (पृष्ठ–468, 469)। यह पुस्तक आठ अध्यायों में विभक्त है और प्रत्येक अध्याय में अनेक आन्तरिक परिच्छेद हैं। पुस्तक में पाणिनी कालीन भौगोलिक भारत के चार मानचित्र संलग्न हैं। तबके गणों का भौगोलिक परिचय देते हुए एक परिशिष्ट संलग्न किया गया है और शब्दानुक्रमणिका एवं विषयानुक्रमणिका भी दर्शित की गई है। ग्रन्थ की भूमिका में लेखक ने पाणिनी पूर्व वैयाकरणों की विस्तृत जानकारी दी है और पाणिनी की इस विशिष्टता को उजागर किया है कि पाणिनी ने लोक व्यव्हार से शब्दार्थों की पहचान की। ऐसा करते हुए पाणिनी ने लोक को मूल पाठ बना दिया जिसकी ओर कालान्तर में फर्डिनैंड डी सस्यूर एवं उत्तर–आधुनिक चिंतकों ने विशेष ध्यान आकृष्ट किया और भाषा विज्ञान को नई दिशा प्रदान की। किन्तु, भाषा विज्ञान के इन सन्दर्भो का समावेश पाणिनी कालीन भारतवर्ष की चर्चा करते हुए वासुदेव शरण अग्रवाल नहीं करते हैं।

प्रथम अध्याय को पाणिनी और उनका शास्त्र नाम दिया गया है। यह अष्टाध्यायी की संरचना और रचना प्रक्रिया को अनावृत करता है।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

वासुदेव शरण अग्रवाल बताते हैं कि संस्कृत ईसा पूर्व पाँचवी–चौथी शताब्दी में बोल–चाल की भाषा रही होगी। इसके लिए वे बोल–चाल में प्रयुक्त होने वाले शब्दों के सूत्र रूप को इंगित करते हैं। जैसे दूर से पुकारने के लिए दूरा धुत्ते च, अभिवादन का उत्तर देने के लिए प्रत्यभिवादे शूद्रे, प्रश्नोत्तर के लिए पृष्ठप्रतिवचने अथवा डाट–फटकार के लिए पृष्टप्रतिवचने आदि (प्रथम अध्याय–पृष्ठ–3)। तथापि यह मत प्रायः सर्वसम्मत है कि पाणिनी के पूर्व संस्कृत अव्याकृत बोली जैसी थी और पाणिनी के बाद यह व्याकृत भाषा के रूप में शिष्ट जनों में प्रचलित हुई। वैदिक संस्कृत और लौकिक संस्कृत के अव्याकृत स्वरुप को पाणिनी ने व्याकृत स्वरुप प्रदान करने के लिए लोक को ही प्रमाणभूत माना और इस लोक प्रमाण की खोज के लिए उन्होंने लोक की यात्रायें की। साथ ही जनश्रुतियों को समझा और जनश्रुतियों से स्मृतियों, आरण्यकों, उपनिषदों आदि के शास्त्रीय मंतव्यों से मिलान किया। इस तथ्य की पुष्टि जाति, क्षेत्र, जनपद संज्ञक सूत्रों से भी होती है और वासुदेव शरण अग्रवाल ने इसके लिए पाणिनी के सन्दर्भ में ह्वेन सांग की उक्तियों का उल्लेख भी किया है।

विवरणात्मक दृष्टि से यह अध्याय स्तुत्य है। किन्तु, इस अध्याय में फर्डिनैंड डी सस्यूर (1857–1913) का उल्लेख न होना इसकी न्यूनता को भी दर्शाता है। वस्तुतः ध्वनि संकेतों को शब्दानुबद्ध करना और उस शब्द में भावार्थ का संकेतित होना तथा उन भावार्थों से वास्तविक प्रतीकों या व्यवहार को संबद्ध करना भाषा का वह जीवन चक्र है जो आज भी हमारी पकड़ से बहुत कुछ बाहर रह गया है। यह ध्वनियों का बोलियों में बनने वाली भाषा का आद्य संसार है। इस आद्य संसार की परतों को खोलने के लिए प्रायः समस्त प्राचीन भाषाओं ने भाषा क़ी उत्पत्ति को दैवी उत्पत्ति से जोड़कर दर्शाया है। हाल के वर्षों में इसे स्वाभाविक जैविक क्रिया के रूप में भी प्रदर्शित किया गया है। स्वाभाविकता को ध्वनि उच्चारण में दैवी भी कहा जा सकता है। उदाहरण के लिए कण्ठ्य वर्ण के उच्चारण के लिए अकुहविसर्जनीयानां कण्ठः कहा गया। इन कण्ठ्य वर्णों का उच्चारण हम तालव्य वर्ण की तरह नहीं कर सकते हैं। तालव्य वर्णों के उच्चारण के लिए इचुयशानां तालु का निर्देश है। यह ध्वनि घोषों की स्वाभाविकता है और प्रदत्त है। प्रदत्त होने के कारण भी इस प्रक्रिया को ईश्वरीय कहा जा सकता है। फोनेटिक्स विद्या के विकास के बाद ही इस स्वाभाविकता पर विस्तार से

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

विचार हुआ। यद्यपि फोनेटिक्स की मूल सामग्री पाणिनी की अष्टाध्यायी में उपलब्ध है किन्तु इसका विस्तार आगे चलकर जोशुआ स्टील तथा अलेक्जेण्डर बेल आदि के प्रयत्नों से अठारवीं. उन्नीसवीं शताब्दी में हुआ। इस क्षेत्र में मोन बोड्डो का स्थान विवादास्पद होते हुए भी महत्वपूर्ण है। उसने यह सिद्धांत प्रस्तावित किया कि विकासवादी अनुकूलन ने मनुष्य के मुख, जिह्वा, गला और स्वर तंत्रियों में बदलाव लाया। इन बदलावों ने मनुष्य को वह क्षमता प्रदान की जिससे उसे ध्वनि उत्पादन की वह क्षमता प्राप्त हुई जिसकी अगली कड़ी में आज हम स्थित हैं। निश्चित ही इन सन्दर्भो का अभाव वासुदेव शरण अग्रवाल की कृति में खटकता है।

द्वितीय अध्याय पाणिनी कालीन भूगोल नाम से समुदिष्ट है। इस अध्याय में अष्टाध्यायी में उपदिष्ट प्राकृतिक भूगोल, सांस्कृतिक भूगोल एवं राजनीतिक भूगोल तीनों का उल्लेख हुआ है। यदि हम पश्चिम की वीनरमैन की अवधारणा[2] और यथार्थवाद के आलोक में विचार करें तो प्राकृतिक भूगोल राजनीतिक भूगोल बनने के बाद ही सांस्कृतिक भूगोल बनता है। किन्तु, मनुष्य के पशु उद्‌भव में निहित डार्विनवादी हिंसा की मीमांसा नए अध्ययनों के आलोक में करें तो प्राकृतिक भूगोल का सांस्कृतिक भूगोल से होते हुए राजनीतिक भूगोल में रूपान्तरण सम्भव प्रतीत होता है। इस दूसरी दृष्टि का अनुशीलन ही पाणिनी कालीन भूगोल नामक अध्याय में परिलक्ष्यित होता है। इस दृष्टि से भारत नाम से अभिहित सांस्कृतिक भूगोल का विस्तार उससे अधिक है जिसे राजनीतिक भूगोल के अंतर्गत भारत संज्ञा प्राप्त है। वस्तुतः जब सम्प्रभुता आधारित राष्ट्र–राज्य के सन्दर्भ में सांस्कृतिक भारत के अतीत को राजनीतिक दृष्टि से देखा जाता है, तब बहुधा लोगों का यह विचार बन जाता है कि भारत जैसी कोई इकाई 1947 से पहले नहीं थी। यह कोई नई बात नहीं है। 1888 में सर जॉन स्ट्रेची कैंब्रिज के स्नातकों के समक्ष भाषण देते हुए भी यही कह रहे थे कि भारत जैसी कोई इकाई नहीं है।[3] किन्तु, स्ट्रेची यह भूल जाते हैं कि 1793 में अमेरिकी उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीश ज़ेम्स विल्सन कह चुके थे कि सम्प्रभुता की धारणा अमेरिकी संविधान निर्माताओं के लिए एक अनजान सी वस्तु थी।[4]

भारत में भी एक तबका जो जातीय अन्तर्विरोधों के समकालीन मानसिक पटल से भारत के अतीत को देखता है वह भी सांस्कृतिक

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

सामंजस्य के घटकों की अवहेलना करते हुए जातीय हित एवं जातीय पहचान को तरजीह देते हुए विघटन के घटकों को अधिक प्रभावपूर्ण तरीके से रेखांकित करता है। इस प्रयास में भी अतीत के सांस्कृतिक भारत का बोध ओझल हो जाता है। यह प्रवृति तब और भी विकृत हो जाती है जब कोई एकलवादी सम्प्रभुता की अवधारणा के चश्मे से सांस्कृतिक भारत के अतीत में राजनीतिक भारत को खोजता है। ऐसे प्रयासों की ज्ञानमीमांसा प्रत्यक्षवाद और व्यवहारवाद के गर्भ से जन्म लेती है। राजनीतिक गतिकी की प्रवृति स्थूल होती है। वह तथ्यात्मक एवं पर्यवेक्षणीय भी अधिक होता है तथा उसका अभिलेखीय सत्यापन भी सम्भव होता है। इस नाते इस प्रवृति के लेखन को विज्ञानवादी होने का गुमान भी होता है। किन्तु सांस्कृतिक गतिकी सूक्ष्म प्रवृति की होती है। यह जब लम्बी यात्रा गैर राजनीतिक क्षेत्र में कर चुकी होती है तब स्थूल राजनीतिक गतिकी की पकड़ में आती है। सांस्कृतिक गतिकी के तत्त्वों को भाषा व्यवहार की पड़ताल करते हुए उसे राजनीतिक एवं गैर राजनीतिक दोनों ही क्षेत्रों में समझा जा सकता है।

वासुदेव शरण अग्रवाल अनेक विवरणों का उल्लेख करते हुए जिनमें ह्वेन सांग का वृतान्त भी शामिल है पाणिनी के जन्मस्थान को सिंधु नदी वाले प्रदेश के शलातुर नामक ग्राम से जोड़ते हैं। प्राकृतिक भूगोल की दृष्टि से देखें तो मध्य एशिया से लेकर कलिंग तक एवं सौवीर (सिंध) से सूरसम (सूरया नदी) असम तक के क्षेत्र बोधक शब्दों का उल्लेख पाणिनी की अष्टाध्यायी में हुआ है। इसका तात्पर्य यह है कि भाषा व्यवहार की दृष्टि से यह सम्पूर्ण भूखंड पाणिनी के द्वारा नाप ली गई थी और यह एक ऐसा क्षेत्र था जिसका भाषा व्यवहार इसे एक समरूप भाषा क्षेत्र (लिंगविस्टिक एरिया) बनाता था। यदि हम हर्सकोविट्स के इस कथन का स्मरण करें कि भाषा संस्कृति की वाहक है, तब इस क्षेत्र में हम सांस्कृतिक एकरूपता के तन्तुओं को भी खोज सकते हैं। इस मत के मार्ग में एक ही अड़चन शेष रह जाती है और वह यह है कि हम यह मान लें कि धत्वार्थों (धातु के अर्थों) की बुनावट और बनावट तब क्षेत्रीय एवं स्थानीय प्रकृति की रही हो। जिसे कालान्तर में पाणिनी एवं पाणिनेयाः ने मिलकर विस्तृत भू–क्षेत्रीय व्यवहार में शामिल करा दिया हो। किन्तु, यह एक बचकानी या सिर्फ तर्क के लिए तर्क से अधिक कुछ सिद्ध नहीं होता है। क्योंकि, तब के समाजों की स्थूल गति और संचार के साधन ऐसे मनगढ़ंत तर्क की अनुमति नहीं देते हैं। भाषा

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

वैज्ञानिक भी यही सिद्ध करते हैं कि भाषा व्यवहार (लिंगुवा के अर्थ में) पहले आता है और भाषा सिद्धांत (स्पीच थ्योरी के अर्थ में) बाद में पहचाने जाते हैं।

पाणिनी की अष्टाध्यायी का भाषायी क्षेत्र अर्थात् भाषा भूगोल का परिक्षेत्र जितना विस्तृत है उतना ही विस्तृत इसका राजनीतिक भूगोल का परिचय भी है। परंतु, यह राजनीतिक भूगोल किसी अखिल भारतीय राजनीतिक सत्ता का परिचय नहीं देता है। जो विशालता भाषा भूगोल को या सांस्कृतिक भूगोल को अष्टाध्यायी में प्राप्त है उस स्तर की विशालता किसी एक राजनीतिक सत्ताधारी को प्राप्त नहीं है। जनपदेलुप (अष्टाध्यायी 4:2:81) का भाष्य करते हुए काशिकाकार ने जो लिखा है उससे तत्कालीन राजनीतिक भूगोल पर प्रकाश पड़ता है। जहाँ कहा गया है कि "देशे तन्नाम्नि यश्चातुर्थिकः प्रत्ययः भवति, तस्य देशे विशेषे अन्पदेयमिधेयलुब भवति। ग्राम समुदायो जनपदः। जनपदों के नाम स्थलाकृति, निवासी, बसाने वालों अथवा इन पर शासन करने वालों के आधार पर हुआ करता है।

विभिन्न जनपदों का यह भाषा भूगोल उदीच्य और प्राच्य दो भागों में विभक्त है जिसके मध्य का क्षेत्र भरत जनपद है (पृष्ठ–41)। शरावती नदी जिसकी पहचान अम्बाला के पास बहने वाली घग्घर नदी से सम्भव है उदीच्य और प्राच्य की विभाजक रेखा समझी गई है। अर्थात् शरावती के दक्षिण पूर्व का देश प्राच्य और पश्चिमोत्तर उदीच्य। इस मत की पुष्टि नागेश ने भी की है। वस्तुतः पाणिनी ने बहवञ्च इञः (2:4:66) सूत्र का ही उल्लेख किया है। पतंजलि ने भाष्य करते हुए इसमें "प्राच्य भरतेषु" शब्द जोड़ दिया है। अतः इसके दो अर्थ–सन्दर्भ हो सकते हैं। प्राच्य देश पर भरत या भरतों का शासन इसका एक अर्थ है। यह राजनीतिक भूगोल की दृष्टि से एक सीमित क्षेत्र है। किन्तु, "परिस्कन्दः प्राच्य भरतेषु" (8:3:75) का सन्दर्भ लेकर इसका एक दूसरा अर्थ बन जाता है। अर्थात् पूरब के भरत या भारती दन्त्य 'स' से परिस्कन्दः बोलते हैं और उत्तर पश्चिम के भरत या भारती मूर्धन्य 'ष' से परिष्कन्दः बोलते हैं। यहाँ यदि पतंजलि के 'भरतेषु' पर विचार किया जाये तो प्राच्य और उदीच्य दोनों के लिए एक ही नाम का उल्लेख ध्वनित होता है। राजनीतिक भूगोल की दृष्टि से पाणिनी की अष्टाध्यायी में नौ नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। मगध, काशी, कोसल, वज्जि, कुरु, अश्मक, अवंती, गंधार और कंबोज (पृष्ठ–59, 66)। इनमें परस्पर उच्चता और अधीनता का सम्बन्ध पाणिनी ने नहीं दर्शाया है। अतः आधुनिक सम्प्रभुता की

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

धारणा की दृष्टि से यह सभी प्रथम दृष्टया संप्रभु राज्य प्रतीत होते हैं किन्तु इनमें एक भारत बोध भी है। एकराज और संघराज शब्द का उल्लेख भी पाणिनी की अष्टाध्यायी में है। किन्तु, वह यूनिटरी और फ़ेडरल अर्थ में न होकर एक व्यक्ति के शासन अथवा समूह द्वारा शासन के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।

अध्याय तीन में पाणिनी कालीन सामाजिक जीवन का उल्लेख हुआ है। वासुदेव शरण अग्रवाल इस अध्याय में लिखते हैं कि पाणिनी कालीन भारत में जाति और उपजाति पहचान घनीभूत हो रहे थे। किन्तु तब उनकी पहचान अपने मूल निवास को इंगित करती थी (अष्टाध्यायी 4:2:80)। तब योनि संबंध और विद्या संबंध जातीय संगठन के आधार थे। योनि से गोत्र और विद्या से चरण रुपी जातीय संगठन को सूचित किया जाता था (पृष्ठ, 90, 91)। कर्म से ब्रह्म वृत्ति धारण करने वालों के लिए ब्रह्मण शब्द आया है और जन्म से इस उपाधि को धारण करने वालों के लिए ब्राह्मण शब्द का उल्लेख है। ब्रह्म वृत्ति धारण न करने किन्तु इस वृत्ति का अहंकार पालने वालों के लिए ब्रह्मबन्धु शब्द का प्रचलन मिलता है (पृष्ठ, 91)। बोधिसत्व के लिए महाब्रह्मा शब्द का उल्लेख आया है। यह शब्द नारद मुनि के लिए भी प्रयुक्त हुआ है। इस विवरण से अतीत में बौद्ध और हिन्दू परंपरा के मध्य सौहार्द के सूत्र मिलते हैं न कि परस्पर द्वेष एवं विभाजन का अर्थ मिलता है। इसी तरह "ब्राह्मणक्षत्रियविटशुद्रा" एक समस्त पद है और इससे भी समूहों में परस्पर विद्वेष या शोषण अधिसूचित नहीं होता है (पृष्ठ, 90)।

जनपदों में बसने वाले जनपदिन कहे गये हैं। जनपद शब्दात क्षत्रियाद... (अष्टाध्यायी, 4:1:168) से जनपदों को बसाने वाले क्षत्रियों का बोध होता है। राजन्य शब्द के दो अर्थ देखे जा सकते हैं – एक क्षत्रिय वाची और दूसरा अभिषिक्त। वैश्य के लिए अर्थ शब्द का भी उल्लेख हुआ है (पृष्ठ, 92)। अष्टाध्यायी में दो प्रकार के शूद्रों का उल्लेख हुआ है। इनमें से एक है अनिर्वासित जो हिन्दू समाज के अंग थे और दूसरे निर्वासित जो वैदेशिक या हिन्दू समाज के अंग नहीं थे (पृष्ठ, 92)। पतंजलि के भाष्य से शुद्र जातियों की पहचान आक्रान्ताओं के रूप में भी की जा सकती है (पृष्ठ, 92)। यह एक ऐसा विमर्श है जो भारत पर आर्य, ईरानी और ब्राह्मण आक्रमण के फूलेवादी मिथक से इतर व्याख्या की सामग्री उपलब्ध कराता है। गोत्र, जनपद एवं वैदिक चरणों के नामों में स्त्री संज्ञक शब्दों का भी अष्टाध्यायी में पर्याप्त संमावेश हुआ है और इससे यह अधिसूचित होता है कि तत्कालीन समाज में भी स्त्री को पर्याप्त सामाजिक प्रतिष्ठा प्राप्त थी।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

चतुर्थ अध्याय का संबंध तत्कालीन आर्थिक दशा से है। इस अध्याय की कुछ सामग्री तीसरे अध्याय से ही मिल जाती है जिसमें अन्न रखने के पात्रों में लकड़ी एवं मिटटी के पात्रों का उल्लेख हुआ है। साथ ही अश्व से चलने वाले रथ, ऊँट एवं बैल से चलने वाले वाहन का उल्लेख किया गया है। यंत्र चालित वाहन का उल्लेख प्रायः अप्राप्य है। हल और बैल की कृषि कार्यों में प्रधानता है (पृष्ठ, 195–196)। यहाँ तक कि भूमि की पैमाइश के लिए भी हल–बैल से खेती योग्य भूमि की पैमाइश के उदाहरण हैं, यथा एक हल–बैल से खेती योग्य भूमि को 'हल्य' और दो हल–बैल से खेती योग्य भूमि को द्विहल्या कहा गया है (पृष्ठ, 196)। काण्ड और अंगुल भी मापक के रूप में प्रस्तुत होते थे। अष्टाध्यायी में आश्वयुजक से लेकर संह्तिबुस अर्थात् खेत तैयार करने से अनाज घर लाने तक दर्जनों शब्दों का उल्लेख हुआ है (पृष्ठ, 201–202)। ध्यातव्य है कि यह समस्त शब्द आधुनिक आर्थिक शब्दाबली के अंतर्गत 'लेबर इंटेंसिव' प्रकृति के हैं न कि 'कैपिटल इंटेंसिव' प्रकृति के। कृषि कर्म के अंतर्गत फल और औषधि के उत्पादन का भी उल्लेख हुआ है (पृष्ठ, 208–209)। कृषि कर्म का पशुपालन से भी घनिष्ट संबंध रहा है (पृष्ठ, 210–217)। पशुपालन का सविस्तार उल्लेख भी तत्कालीन अर्थव्यवस्था के स्वरुप को उद्घाटित करता है। इसके अतिरिक्त निमान (वस्तु विनिमय) का उल्लेख भी तत्कालीन अर्थव्यवस्था की प्रकृति को उद्घाटित करता है (पृष्ठ, 235–238)। 'नन्दोपक्रमाणि' शब्द की व्याख्या करते हुए वासुदेव शरण अग्रवाल लिखते हैं कि नन्द राजाओं ने सर्वप्रथम नाप–तौल के बटखरों का सुनिश्चित मान निर्धारण किया (पृष्ठ, 239)। यह मत कुछ विरोधाभाषी प्रतीत होता है। ऐसा इसलिए कि जब नन्दवंश से पूर्व के जानपदिक संगठनों का उल्लेख अष्टाध्यायी में है, तब यह कैसे मान लिया जाये कि जानपदिक संगठन के स्तर तक पहुँचने में बिना नाप–तौल के ही आर्थिक व्यवहार सम्भव रहा होगा। 'स्वर्ण मुद्रामान' जैसी किसी व्यवस्था का उल्लेख वासुदेव शरण अग्रवाल ने नहीं किया है। ऐसा प्रतीत होता है कि यह विचार अष्टाध्यायी में वर्णित भी नहीं है।

पाँचवे अध्याय का प्रतिपाद्य शिक्षा और साहित्य है। इस अध्याय से प्राचीन वैदिक शिक्षा प्रणाली, गुरुकुल के नाम, उनके उदय एवं विकास, उनकी प्रतिष्ठा, अध्ययन के विषय एवं अध्यापन की प्रक्रिया पर प्रकाश

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

पड़ता है। अष्टाध्यायी के विवरण से वेद, उपनिषद्, आरण्यक, ब्राह्मण, ज्योतिष, व्याकरण, वृत्ति विषयक (शिल्प विद्या), काव्य साहित्य, नाट्य विद्या, वास्तु विद्या जैसे अनेक विद्याओं के अध्ययन का उल्लेख मिलता है (पृष्ठ, 310–328)। उल्लेखनीय है कि श्रमण साहित्य की चर्चा तो अष्टाध्यायी में हुई ही है लेकिन इसमें महाभारत का भी एक ग्रन्थ के रूप में उल्लेख आया है (पृष्ठ, 328)। स्त्री छात्राओं एवं स्त्री शिक्षिकाओं का भी तब के भारत में प्रचलन था और स्त्री छात्रायें भी अन्तेवासी हुआ करती थीं। इस अध्याय के विवरण से ऐसा अभिमत बनता है कि पाणिनी कालीन भारत में सैद्धांतिक एवं दार्शनिक विद्याओं का उच्चकोटि का विकास हो चुका था। किन्तु, सैद्धांतिक ज्ञान का तकनीकी रूपांतरण भी उसी उच्च अवस्था को प्राप्त कर लिया था, ऐसा निश्चित अभिमत नहीं बन पाता है।

धर्मदर्शन विषयक छठे अध्याय में मुख्यतः 16 देवताओं की एक सूची वासुदेव शरण अग्रवाल अष्टाध्यायी के निर्वचन से प्रस्तुत करते हैं (पृष्ठ, 345)। इन देवताओं को अनेक यज्ञों से संतुष्ट करने की विधियों का भी उल्लेख हुआ है (पृष्ठ, 348)। उन्होंने इस अध्याय में भक्ति धर्म के उदय और उसके प्रभाव को भी प्रदर्शित किया है। उनका मानना है कि भक्ति धर्म के प्रभाव से पुरुष देवताओं की महत्ता बढ़ी (पृष्ठ, 348)। बौद्ध और जैन मत के साथ साथ वासुदेवकृष्ण की लोकप्रियता से नारायणी धर्म का भी विकास हो चुका था। इस तथ्य को वासुदेव शरण अग्रवाल वासुदेवार्जुनेभ्यो उन (अष्टाध्यायी, 4:3:98) के माध्यम से भी पुष्ट करते हैं (पृष्ठ, 348)। प्रकारान्तर से यह सूत्र सामाजिक समग्रता (वासुदेव) एवं व्यक्तिगत क्षमता (अर्जुन) के योग से विशेषार्थक होने का भी संकेत करता है। इस दृष्टि से यह राष्ट्रवाद का भी सूत्र बन जाता है। जिसमें व्यक्तिगत निजता का लोप किये बिना सामूहिक मन से परिपूरित होने का भाव सन्निहित है। लोक देवता के रूप में यक्ष, गन्धर्व, कुष्माण्ड और नाग का भी उल्लेख मिलता है, इनका उल्लेख पालि साहित्य में भी हुआ है (पृष्ठ, 351)। मूर्ति पूजा, एकेश्वरवाद, बहुदेववाद और निरीश्वरवाद के लिए भी पाणिनी साहित्य में शब्दोल्लेख है। मंत्र एवं कथा श्रवण का भी व्यवस्थित रूप में विकास हो चुका था। परन्तु, जो बात सबसे महत्त्वपूर्ण है वह यह है कि उपासना एवं आस्था की सभी प्रणालियों में एकत्व की धारा अनुस्यूत रही है। कपटी साधुओं की भी तब जमात पायी जाती थी और स्त्री श्रमण भी समाज में थीं। धर्म का मूल तपश्चर्या और

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

सत्यव्रती होने में सन्निहित था। कुल मिलाकर धर्म के ज्ञानमार्ग का महत्त्व अधिक था।

सातवें अध्याय में पाणिनी कालीन राजनीति पर विचार किया गया है और आठवें अध्याय में पाणिनी के समय को सुनिश्चित करते हुए उपसंहारात्मक वक्तव्य दिए गये हैं। वासुदेव शरण अग्रवाल लिखते हैं कि पाणिनी के युग में राज्य और संघ दो प्रकार की शासन प्रणालियाँ प्रचलित थीं। राजा जिस तंत्र में अधिपति हो उसे राज्य कहा गया है (अष्टाध्यायी, 6:12:30)। ऐतरेय ब्राह्मण में भोज्य, साम्राज्य, स्वराज एवं वैराज्य जैसी शासन प्रणालियों का उल्लेख हुआ है (पृष्ठ, 384)। एक जनपद की भूमि को पृथ्वी और उसके राजा को पार्थिव कहा गया है। अनेक जनपदों की विस्तृत भूमि को सर्वभूमि और उसके अधिपति को सार्वभौम कहा गया है। अनेक जनपदों तक राज्य विस्तार को साम्राज्य कहा गया है। निघण्टु में राजा के लिए "राष्ट्री" शब्द का भी प्रयोग मिलता है और इसके आधार पर यह कहना सम्यक होगा कि राष्ट्रवाद की वैचारिकी के सूत्र भी तत्कालीन भारत में उपलब्ध थे। मंत्रिपरिषद का उल्लेख यह दर्शाता है कि राजा सर्वतंत्र स्वतंत्र नहीं था। मंत्रिपरिषद से बड़ी राजसभा थी। बिन्दुसार की राजसभा में 500 सदस्यों का उल्लेख मिलता है (पृष्ठ, 390)। मनुस्मृति एवं कौटिल्य कृत अर्थशास्त्र में वर्णित सप्तांग राज्य का जो विचार है अष्टाध्यायी भी उसका संकेत करती है। षाड्गुण्य एवं मंडल सिद्धांत का भी विचार परिलक्षित होता है। धर्मस्थ एवं कंटकशोधन के रूप में क्रमशः दीवानी और फौजदारी न्यायालय का भी वर्णन है (पृष्ठ, 407)। जनपद संगठन पर विस्तार से प्रकाश डाला गया है। यह जनपद एक राज और गणाधीन प्रकार के थे (पृष्ठ, 420)। शासन में संघ शब्द का प्रयोग कुलों के प्रतिनिधियों द्वारा राज कार्य के संचालन को अधिसूचित करता है (पृष्ठ, 431)। संघ शासन की एक विशेषता के रूप में "पारमेष्ठ्य शासन" का भी उल्लेख हुआ है। यह शांति एवं समता के मूल्यों द्वारा शासन का प्रतीक है (पृष्ठ, 433)।

पाणिनी की अष्टाध्यायी और विशेषकर वासुदेव शरण अग्रवाल कृत पाणिनी कालीन भारत सभी वर्ग के उच्च शिक्षार्थियों के लिए पठनीय पुस्तक है। यह पुस्तक जहाँ सर जॉन स्ट्रेची जैसे विद्वानों के लिए एक सबक है जो कहते थे कि भारत जैसी कोई इकाई नहीं है। वहीं, यह पुस्तक आवेगात्मक निष्ठावादियों के लिए भी मार्गदर्शन का कार्य करती है जो मैक्स

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

वेबर की प्रति कृति बन जाना चाहते हैं। परन्तु, उन्हें पता नहीं होता है कि जिस प्रकार मैक्स वेबर ने प्रोटेस्टेंट नैतिकता में ही पूँजीवाद का विकास देखा था वैसा ही वे भारतीय मूल्य दृष्टि के आधार पर भौतिक विकास की नक़ल करना चाहते हैं। बहुधा जब हम प्राचीन संस्कृत साहित्य में राजा के लिए पृथ्वीपति शब्द का प्रयोग देखते हैं तब एक विशेष मनोवृत्ति हमें प्रेरित करती है और हम सकल पृथ्वी पर एक राजा के शासन की कल्पना करने लगते हैं। किन्तु, यह न तो भौतिक रूप से सत्यापनीय है और न ही यह भाषायी तर्क द्वारा समर्थित है। ऐसा इसलिए कि पाणिनी ने एक राजा के अधीन भूमि को जहाँ पृथ्वी कहा है वहीं अनेक समकालीन राजाओं एवं राज्यों का उल्लेख भी किया है।

आज के समय में दुनिया भर में वैकल्पिक इतिहास लेखन की भी खूब चर्चा हो रही है और अपना भारतवर्ष भी इससे अछूता नहीं है। विगत शताब्दी में जब मार्क्सवाद का परचम दुनिया भर में फहरा रहा था तब भी वैकल्पिक इतिहास लेखन की ऐसी विधा पर खूब चर्चा हो रही थी जिसके केंद्र में आम लोग हैं। परन्तु, तब आम लोगों को इतिहास के केंद्र में रखने की योजना के पीछे वर्ग–संघर्ष की गति को बढ़ावा देना था। आज जब आम लोगों को इतिहास के केंद्र में रखने की बात हो रही है तब उसमें जातीय श्रेष्ठता के दावों को पुष्ट करने की योजना काम कर रही है। इन दोनों ही प्रवृतियों के अपने–अपने दोष हैं। पाणिनी की अष्टाध्यायी और उस पर वासुदेव शरण अग्रवाल की समीक्षात्मक दृष्टि भी हमें वैकल्पिक इतिहास लेखन की एक भारतीय दृष्टि प्रदान करती है। जिसका मूल आधार भाषा व्यवहार एवं जनश्रुतियाँ हैं। इनमें से सिर्फ जनश्रुतियों को ही यदि वैकल्पिक इतिहास लेखन का आधार बनाया जाये, तब हम न तो इतिहास के मर्म को समझ पाते हैं और न ही इस तरह के इतिहास लेखन से कोई सकारात्मक प्रेरणा प्राप्त प्राप्त हो सकती है। ऐसा इसलिए कि विगत पचास दशकों में धीरे–धीरे और विगत दस वर्षों में तेजी से विमर्श निर्माण की प्रक्रिया से आम जनता बहिष्कृत हो चुकी है। नोम चोम्स्की इसे ही 'मैन्युफैक्चरिंग कंसेंट' कहते हैं। अथवा इसे ही एक अलग दृष्टि से ल्योतार 'लैंग्वेज गेम' कहते हैं। आज की जनश्रुतियाँ सत्ता के विकारों से ग्रसित ही नहीं है बल्कि प्रेरित भी है। इस प्रेरणा के मूल में बाइनरी एप्रोच है, जिसे हम पश्चिम की विशिष्टता कहते रहे हैं किन्तु धीरे–धीरे हम उसी में उलझते भी जा रहे हैं।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

इसीलिए वैकल्पिक इतिहास लेखन के लिए हमें भाषा व्यवहार और जनश्रुतियों को एक साथ रखना होगा। जनश्रुतियों के मिथ्यात्व का परीक्षण भाषा व्यवहार से करना होगा और भाषा व्यवहार के विस्तार एवं आयु का भी संधान करना होगा। प्रायः यह असंभव जैसा कार्य है और इसीलिए दूसरे पाणिनी को हमने अब तक नहीं देखा है। पाणिनी कालीन भारत आज के भारत के लिए जिसमें अतीत जीविता कुछ अधिक बढती जा रही है, एक चेतावनी भी है। यह इस दृष्टि से चेतावनी है कि इतिहास के गड़े मुर्दों को उखाड़ने की प्रवृति और उनके भौतिक सत्यापन की प्रवृति एक दिन भारत में सभी को विदेशी और आक्रमणकारी साबित कर देगी। ज्योतिबा फुले अपनी रचना गुलामगिरी में ब्राह्मणों को आर्य, ईरानी और बाह्य आक्रमणकारी कहते हैं।[5] पहचान की राजनीति में यह ध्रुवीकरण का एक माध्यम बन गया है। किन्तु, पाणिनी ने विदेशी आक्रमणकारियों के लिए भी शूद्र शब्द का प्रयोग किया है। वासुदेव शरण अग्रवाल की ही एक दूसरी कृति भारत सावित्री[6] के सन्दर्भों से यदि पाणिनी के उक्त विचार का संधान किया जाये तो आज के भारत में भी उन आक्रमणकारी शूद्रों की पहचान संभव है। जो इतिहास एवं समाज की अन्तःक्रिया में आज समाज के निचले पायदान पर स्थित हैं। यह विचार एक दूसरे तरह के ध्रुवीकरण को जन्म देगा। परन्तु, ऐसे ध्रुवीकरणों से अंततःमानवता और भारतीयता कलंकित होती है।

पाणिनी की अष्टाध्यायी और वासुदेव शरण अग्रवाल की पाणिनी कालीन भारत से जो विचार आज के समय में सबसे अधिक ग्राह्य है, वह है अद्वैत का विचार। भले ही यह विचार शांकरमत के माध्यम से पाणिनी के बाद स्थापित हुआ हो किन्तु ध्वनियों का संगम जब अर्थवान हो जाता है तब उस अर्थ से ध्वनि में संगमितस्वर की इकाइयों का निष्कासन संभव नहीं रह जाता है। इसी तरह वंशों से जातियाँ और जातियों से देश बनता है, देश से विहीन होकर न तो वंश बचते हैं न ही जातियाँ। दोनों में जुडाव का एक अदृश्य संबंध है, पाणिनी ने इन जुड़ने वाले प्रत्ययों में ही भारत को बनते देखा है। वेदांत इस जुडाव को पिण्ड और ब्रह्माण्ड की एकता में अद्वैत रूप में देखता है और भारत उसे वसुधैव कुटुम्बकम् के रूप में अपनाता है।

आचार्य, राजनीति शास्त्र विभाग,
आर्य महिला पी.जी. कॉलेज (का.हि.वि.वि.), वाराणसी-221002

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

सन्दर्भ एवं पादटिप्पणी –

1. कार्ल मार्क्स (1987), कैपिटल भाग–1, प्रोग्रस पब्लिशर्स, मास्को, पृष्ठ–127
2. रुत्खेर बर्गमान (2021), ह्यूमनकाइंड, अ होपफुल हिस्ट्री, ब्लूम्सबरी पब्लिशिंग, न्यूयॉर्क, पृष्ठ–4–17.
3. सुमित सरकार (1989), मॉडर्न इंडिया 1885–1947, पालग्रेव मैकमिलन, न्यू यॉर्क, पृष्ठ–2.
4. हन्ना आरेंट (1969), ऑन वायलेंश, हरकोर्ट ब्रेस पब्लिशर्स, न्यू यॉर्क, पृष्ठ–6
5. ज्योतिबा फुले (2015), महात्मा ज्योतिबा फुले रचनावली, भाग–1, संपादक–एल. जी. मेश्राम विमलकीर्ति, राधा प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ–154–157.
6. वासुदेव शरण अग्रवालम (2021), भारत सावित्री, सस्ता साहित्य मंडल प्रकाशन, नई दिल्ली.

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

75

आज़ादी का
अमृत महोत्सव

ISSN 0974 0053

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection